ब्रह्मवाद



विद्याविलासि पूज्यपाद गो.ति.

श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी)

महाराज श्री की आज्ञा से प्रकाशित

जगद् गुरु
श्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस
आचार्यवर्य्य गोस्वामि तिलकायित
श्री 108 श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेशजी) महाराज



नाथद्वारा

जन्मतिथि फाल्गुन शुक्ल ७
विक्रम संवत् २००६

प्राकट्य
२४ फरवरी सन् १९५०

ब्रह्मवाद

लेखक
देवर्षि श्री रमानाथ जी शास्त्री

संपादक एवं संशोधक
त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायणजी शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए. हिन्दी, संस्कृत
अध्यक्ष
विद्या विभाग, मन्दिर मण्डल नाथद्वारा

प्रकाशक
विद्या विभाग, मंदिर मण्डल, नाथद्वारा

तृतीयावृत्ति
प्रति २०००

न्योछावर २५/-
संवत् २०७३

प्रस्तावना

मोक्षार्थी जीवों को श्री पुरुषोत्तम का ही भजन करना चाहिए। भगवान् श्री पुरुषोत्तम निर्दोष हैं तथा दोषों को दूर करने की शक्ति रखते हैं इसलिए केवल श्री पुरुषोत्तम का ही सेवन करना चाहिए किंवा अवतारों की पूजा करनी चाहिए यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यह ब्रह्मवाद भगवद् भक्ति में महत् उपयोगी है इस ब्रह्मवाद सहित भक्ति ही भगवान की आत्मा है।

''ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'' इस वाक्य का भी यही तात्पर्य है। निर्गुण सत्य ज्ञान आनन्द ही भगवान् है और ब्रह्मवाद भक्ति में यही भरा हुआ है। इसीलिए ब्रह्मवाद और भक्ति दोनों भगवान् है। वास्तव में शुद्ध भक्ति में ब्रह्मवाद की महती आवश्यकता है। ग्राह्यात्याज्य विवेक ब्रह्मवाद का मुख्य उद्देश्य है वही मुख्य भक्ति का भी उद्देश्य है जिस प्रकार ब्रह्मवाद में शुद्ध ब्रह्म ग्राह्य है और अन्य सब त्याज्य है भक्ति ब्रह्मवाद भेदमात्र इतना ही है कि एक प्रेम है तो दूसरा ज्ञान। एक चिद्रुप है तो दूसरा आनन्द रुप ब्रह्म है। किन्तु फल में दोनों भगवद् रूप है। अखिल जगत को भगवद् स्वरुप में देखना यही अखण्डाद्वैत ब्रह्मवाद है। गोपी जनों के शुद्ध भक्ति में शुद्ध ब्रह्मवाद है। ब्रह्मवाद ग्रन्थ में इसी विषय को स्पष्ट किया है।

देवर्षि स्व. श्री रमानाथ जी शास्त्री द्वारा लिखित ब्रह्मवाद पुस्तक विद्या विलासी पूज्यपाद तिलकायित गोस्वामि श्री १०८ श्री राकेश जी (श्री इन्द्रदमन जी) महाराज श्री की आज्ञा से विद्या विभाग मन्दिर मण्डल नाथद्वारा ने प्रकाशित की है। आशा है वैष्णवजन इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे। संशोधन में त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन क्षमा करेंगे। **(गच्छतः स्खलनं क्वापि)**

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायण जी शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए., हिन्दी, संस्कृत
अध्यक्ष
विद्याविभाग, मन्दिर मण्डल नाथद्वारा (राज.)

।। श्री हरिः ।।

संक्षिप्त जीवन परिचय

स्व. श्री रमानाथ जी शास्त्री



सनातन धर्म तथा पुष्टिमार्ग के उत्कृष्ट व्याख्याता और विद्वान् स्व. देवर्षि श्री रमानाथ जी शास्त्री श्री द्वारकानाथ जी के सुयोग्य एवं ज्येष्ठ सुपुत्र थे।

आपका जन्म विक्रम सम्वत् 1936 श्रावण शुक्ल पंचमी को जयपुर में हुआ था। ये कृष्ण यजुर्वेद शाखाध्यायी तैलंग ब्राह्मण थे। देवर्षि बाल्यकाल में ही प्रतिभाशाली, तेज सम्पन्न एवं कुशाग्र बुद्धि थे। आपने काशी में दो वर्ष तक सपरिश्रम विद्याध्ययन किया था। तत्कालीन प्रसिद्ध मासिक पत्र संस्कृत रत्नाकर में जो वियोगिनी बालाकाव्य निकाला था उसमें आपकी प्रारंभिक अगाध काव्य प्रतिभा की एक रचना चमत्कृति पूर्ण कविता प्रकाशित हुई।

श्री शास्त्री जी की वाल्यावस्था में अवधारणा थी कि पुष्टि सम्प्रदाय में ग्रंथ साहित्य का अभाव है किन्तु आशुकवि श्री नन्दकिशोर जी शास्त्री साहित्य भूषण ने जो इनके मामा थे उन्होंने सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ इनको अध्ययन के लिये दिये। गोस्वामि श्री गोकुलनाथजी की आज्ञा से षड्दर्शनादि शास्त्र के मार्मिक विद्वान् अद्वितीय पौराणिक भट्ट श्री पुरुषोत्तम जी शास्त्री से अणुभाष्य, चतुःसूत्री तथा कई अन्यान्य ग्रंथों का आपने अध्ययन किया तब इन्हें सम्यक् प्रकार से बोध हुआ।

बम्बई में श्री शास्त्री जी ने सनातम धर्म एवं सम्प्रदाय पर लगभग चालीस ग्रंथों का निर्माण किया। बंबई प्रवास काल में कालबादेवी रोड़

पर नारायण मूल जी पुस्तक विक्रेता की प्रसिद्ध दुकान पर विद्वानों की सायंकालीन बैठक रहती थी। ये वहां विद्वानों की शास्त्रीय चर्चा में भाग लिया करते थे।

तत्कालीन बंबई के प्रसिद्ध शास्त्री श्री देवशंकरजी से शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार कर ली। कुशाग्र बुद्धि और पाण्डित्यपूर्ण वाग्मिता से शास्त्रार्थ में श्री देवशंकर जी को परास्त कर दिया।

संस्कृत में उत्तमाधिकारियों के लिये सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ हैं किन्तु मध्यमाधिकारियों के लिये हिन्दी भाषा में किसी प्रकार का ग्रन्थ नहीं होने से इन्होंने भाष्य, विद्वन्मण्डन, श्री सुबोधिनी जी, मारुतशक्ति, प्रमेय रत्नार्णव आदि ग्रन्थों का आश्रय लेकर "शुद्धाद्वैत दर्शन" नामक लघु ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें प्रायः समस्त कार्य का निरूपण संक्षेप में कर दिया है।

नाथद्वारा में नि. लीलास्थ गोस्वामि तिलकायित श्री गोवर्द्धन लालजी महाराज श्री की आज्ञा से श्री शास्त्री जी बम्बई से नाथद्वारा आ गये यहाँ आपने विद्याविभाग के कार्य को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया तथा सम्प्रदाय के तीस ग्रंथों के लगभग रचना की थी।

श्री शास्त्री जी की विद्वत्ता से कल्याण के पूर्व सम्पादक पण्डित श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार का आपके प्रति गुरुभाव था।

बंबई हाई कोर्ट के न्यायाधीश श्री शाह को आप गीता पढ़ाते थे। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, चितरंजन दास, श्री राजगोपालाचारी से भी इनकी चर्चाएं हुई थी।

महाराज श्री जब जबलपुर पधारे थे वहाँ उपस्थित वैष्णवों के समक्ष आपने प्रवचन दिया था।

गोस्वामि श्री दामोदरलाल जी महाराज श्री के साथ काशी विजय में आप साथ थे। राष्ट्र कवि माखनलाल चतुर्वेदी के आप अभिन्न मित्र थे।

श्रीमद् भागवत की अधिकृत हिन्दी टीका जो गीता प्रेसगोरखपुर के द्वारा प्रकाशित करवाई गई उसमें श्री शास्त्री जी का बहुत बड़ा योगदान था। आपने उसमें आवश्यक संशोधन का कार्य किया। श्री पोद्दार जी ने आपको श्री वल्लभ सम्प्रदाय का महान् विद्वान कहा।

सम्वत् 1999 के प्रारंभ में आपने 'गीता की समालोचना' नामक बहुत ही गवेषणा पूर्ण ग्रंथ लिखना प्रारम्भ किया। यह उनकी अन्तिम कृति थी। इसमें उनकी विद्वता, अनुभव और प्रखर पाण्डित्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ।

विद्वत्ता के साथ ही क्रिकेट एवं शतरंज के प्रेमी तथा चित्रकला में पारंगत थे। इनके चित्रों को देखकर श्रेष्ठ चित्रकार भी मंत्र मुग्ध हो जाते थे। ये श्रेष्ठ सितार वादक एवं ताल स्वर के ज्ञाता भी थे। श्री शास्त्री जी के लिये यदि यह कहा जाय कि साहित्य, संगीत तथा कला के मर्मज्ञ एवं निधि थे तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सम्प्रदाय में श्री शास्त्री जी के समान किसी ने इतनी यश कीर्ति अर्जित नहीं की थी। इनके लिये ''अधीतमध्यापितमर्जितंयशो'' की उक्ति चरितार्थ होती है।

श्रावण कृष्ण 10 सोमवार सम्वत् 2000 मध्याह्नेतर दिन के तीन बजे नाथद्वारा में श्री शास्त्री के दिवंगत होने पर नाथद्वारा, बंबई, पोरबन्दर, कोच्चीन, जयपुर आदि स्थानों पर शोक सभाएं आयोजित कर हार्दिक संवेदनाएं प्रकट की गई।

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायण जी शास्त्री

अध्यक्ष

विद्याविभाग

मंदिर मंडल नाथद्वारा

श्रीहरि:

श्रीब्रह्मवादैकस्थापकाय नमः

ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते।

ब्रह्मवाद

भगवद्भक्ति तथा सर्वात्मभाव में ब्रह्मवाद परम उपयोगी है, इसलिये इसका विचार भी अवश्यकर्तव्य है। ब्रह्म के स्वरूप को जानने के लिए किंवा ब्रह्मप्राप्ति के लिये जो ब्रह्मवेत्ता निःस्वार्थ रागद्वेषरहित महापुरुषों का वाद[1] अर्थात् ब्रह्मविचार है, वह ब्रह्मवाद कहा जाता है। 'वाद' शब्द से केवल वाणी से कथनमात्र विचार नहीं समझना चाहये किन्तु शब्दार्थश्रवणमनननिदिध्यासनके द्वारा जो अनुभवरूप है, वह मुख्य ब्रह्मवाद है। यह ब्रह्मवाद दो प्रकार का है- मुख्य और अमुख्य। 'सर्वं (साक्षात्) ब्रह्म' [2]'सब कुछ साक्षात् भगवान् है' यह वाद मुख्य ब्रह्मवाद है। किन्तु 'जीवो ब्रह्म' 'जीव भी ब्रह्म है' 'जड़ भी ब्रह्म है' 'जगत् भी ब्रह्म है' यह प्रतिनियत नाम रूपवाला विचार किंवा वाद अमुख्य ब्रह्मवाद है। प्रतिनियत नाम और रूप में भेद लगा हुआ है, अज्ञान लगा हुआ है और विषयता भी लगी हुई है इसीलिये यह वाद अमुख्य ब्रह्मवाद है। भेदसहिष्णु ब्रह्मवाद अमुख्य है, और केवल शुद्ध अभेदरूप ब्रह्मवाद मुख्य है। तत्त्वात्मरूप ब्रह्मवाद अमुख्य है और भगवत्त्वरूप ब्रह्मवाद मुख्य है। सच्चिद्रूप अमुख्य ब्रह्मवाद है और सच्चिदानन्दरूप मुख्य ब्रह्मवाद है। नवलक्षणलक्ष्य दशम मुख्य ब्रह्मवाद है। त्याज्य अमुख्य है और आश्रय मुख्य ब्रह्मवाद है और केवल जगत् असत्य है इत्यादि वा तो ब्रह्मवाद ही नहीं है। 'इति वादसमुद्देशः, उत्पत्तिर्वा।'

---

१ ब्रह्मणो निरूपणार्थेवादः, वीतरागकथा यत्र तादृशो विचारः। (सुबो०)

२ अयं मुख्यो ब्रह्मवादः। (सुबोधिनी)

'अथोपपत्तिर्विचारो वा।' एक ही पदार्थ को विविध रूप में अनुभव करना विज्ञान का और विविध रूपों में एक ही पदार्थ का अनुभव करना यह ज्ञान का वास्तविक (असल) स्वरूप है। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान कर लेना यह विज्ञान कहा जाता है और अन्वयव्यतिरेक से सब पदार्थों का एक रूप में निश्चय कर लेना यह ज्ञान है। जिस तरह संसार में विविध बुद्धियाँ भी हैं और एक बुद्धि भी है इसी प्रकार से ही ब्रह्म के विषय में समझ रखना उचित है। गहनों की बुद्धियाँ भी हैं और सोने की बुद्धि भी है। वे अनन्त हैं तो वह एक ही है। उनकी कहीं भी स्थिरता नहीं तो यह आगे चलती ही नहीं। भेददृष्टि किंवा भेदबुद्धि का कहीं भी ठहराव नहीं होता, तो अभेदबुद्धि एक कदम आगे नहीं बढ़ती। वस्त्रबुद्धि सर्वदा एक है, पर सूत, ऊन, रेशम, धोती, साड़ी वगैरह प्रतिनियत रूपनामवाली बुद्धियों का कहीं पता नहीं है। तूफान में आयी हुई नावकी तरह इन बुद्धियों का एक स्थान होना असम्भव है। यही बात ब्रह्मवाद में भी समझना चाहिये। श्रीनारदजी ने वेदव्यासजी से कहा कि–

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम ॥*

(श्रीमद्भा० १।५।१४)

---

* अभिधेयापर्यवसानं हि सर्ववस्तुषु। मरुमरीचिकावन्नियतत्वाभावात्। भगवतो गुणानान्मनन्तत्वेऽपि नियतत्वम्। अतः कार्यासमाप्ति शङ्कया प्रथमत एवान्यन्नारम्भणीयम्। यद्यपि सर्वमेव भगवच्चरित्रं तथापि भगवच्चरित्रत्वेनानिरूपाणाज्ञत्वेऽपि न तथात्वम्। पृथग्दर्शनकृतानि। .... कर्हिचिदपि कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चिद्देशे बुद्धिरास्पदं न लभेत। सर्वस्यापि बुद्धिकृतत्वात्। (बुबोधिनी)

मरुमरीचिकाकी तरह माया से मोहित बुद्धियों ने पदार्थों को कुछ का कुछ समझ रक्खा है। इसलिये उनके पृथक्-पृथक् नाम और रूपों की संख्या या उनका वर्णन पूरा हो नहीं सकता। क्योंकि दुनिया के पदार्थ अनन्त हैं। दुनिया के प्रायः लोग पृथक् द्रष्टा और पृथक् बुद्धिवाले हैं ऐसी दशा में यदि भेदबुद्धि को आगे रखकर कोई उन प्रतिनियत रूपनामवाले जगत् का पूरा वर्णन करना चाहेगा तो बुद्धि दुःखी हो जाएगी। और कभी भी कहीं भी कहीं भी जाकर अन्त नहीं आयेगा। सारी आयु पूरी हो जायगी पर कार्य की समाप्ति ही न हो सकेगी। जड पदार्थ अनन्त हैं किन्तु उन्हें समझदारी से समेटने लगोगे तो हद्द चार या पाँच निकलेंगे अर्थात् पञ्चमहाभूत और इन्हें भी यदि पृथक् दृष्टि को छोड़कर एक बुद्धि से ग्रहण करना चाहोगो तो कह सकते हो एक है, सत्। सद्बुद्धि एक है। पट है, घट है, राम है, श्याम है आदि है है है सब बुद्धियाँ एक (है) सत्मे समा जाती हैं। यह सत् ही ब्रह्म है। यह सत् सच्चिदानन्द भगवान् का एक गुण है, धर्म है। सारी जड़ दुनिया इस सत् में समा रही है। सारी दुनिया के चरित्र इस सत् का चरित्र है। यद्यपि सारा जड जगत् सद् ब्रह्म ही है और इस तरह किसी का भी कुछ वर्णन ब्रह्म का ही वर्णन कहा जा सकता है किन्तु उस बुद्धि के बिना कुछ भी नहीं। अन्धहस्तिन्याय से कुछ हो नहीं सकता। आपने भारत बनाया भी किन्तु भगवच्चरित्र नहीं कहा, यह कह सकते हैं।

भगवती गीता कहती है कि-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म है, यह निश्चय कर लेनेवाली बुद्धि एक

है और जो बुद्धि कुछ निश्चय नहीं कर चुकी वह बहुशाख और अनन्त है। जितने शब्द हैं उन सबका अर्थ परब्रह्म भगवान् है। सृष्टि के आदि में भगवान् ने अपने ही अनन्त रूपों में से कुछ रूपों को ग्रहण कर व्यवहार करने के लिये जीव जातों को दिये। यद्यपि वे भगवद्रूप हैं तथापि उस वास्तविक रूप से और वास्तविक नामसे लोकव्यवहार नहीं चल सकता इसलिये विषयता के वश होकर धीरे-धीरे लोककुशल पुरुषों ने भगवत्प्रेरणा से ही उन-उन पदार्थों को नियत कर अपने व्यवहार के अनुसार उनके अनेक नाम भी धर लिये। जब-जब व्यवहार की अपेक्षा होती गयी तब-तब उत्तरोत्तर प्रतिनियत रूप और प्रतिनियत नाम बढ़ते गये, इस तरह उस विषयता के ही रूप और नाम अनन्त हो गये। अनादिकाल से वृद्धव्यवहार द्वारा आजतक वैसे-के-वैसे बढ़ते-घटते चले आ रहे हैं और इसी तरह न जाने कब तक चलते ही रहेंगे। जिस तरह लोक में एक ही सद्ब्रह्म के या सच्चिदानन्द ब्रह्म के अनन्त नाम-रूप हो गये हैं इसी तरह वेद में भी एक ही पदार्थ के अनेक रूप-नाम हो रहे हैं। ब्रह्मा ने एक समय इस तत्त्व की परीक्षा कर ली है। अपनी अन्तर्वर्तिनी दृष्टि से प्रत्यक्ष कर लिया है और कहा भी है कि-

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
नाविदं यज्ञसंभारान्पुरुषावयवादृते॥

मैं जिस समय भगवान् के नाभिकमल में से पैदा हुआ उस समय अति विस्तृत स्वरूपवाले भगवान् के अवयवों के सिवा मुझे यज्ञ करने के लिए कोई सामग्री ही नहीं मिली। तब और तरह से कार्य चलता न दीखने पर मैंने उन्हीं भगवदवयवों में यज्ञसामग्रियों की भावना करते हुए भगवान् से ही भगवान् का यज्ञ किया। इस तरह अनादिकाल से ये प्रतिनियत नाम

और रूप चले आ रहे हैं और वे इतने रूढ़ हो चुके हैं कि अब यदि किसी को यह कहें कि घड़ा घड़ा नहीं है तो कभी स्वीकार नहीं करेगा। तुम्हारा पिता पिता नहीं है तो लड़ने लगेगा। किन्तु यह बुद्धि दृढ होने पर भी व्यवसायात्मिका नहीं है क्योंकि किसी निश्चय को ग्रहण नहीं किये है। सत्य पदार्थ का अन्तिम निर्णय ही निश्चय कहा जाता है। सब पदार्थों के भीतर एक सत्य पदार्थ सच्चिदानन्द समाया हुआ है, उसी पर ये प्रतिनियत रूप-नाम की बुद्धि अव्यवसायात्मिका है। व्यवसाय-बुद्धि एक ही रहती है और अव्यवसाय-बुद्धि बहुशाख और अनन्त है। सारी सृष्टि सदात्मक, चिदात्मक, आनन्दात्मक और सच्चिदानन्दात्मक है, ब्रह्म है। उसके ऊपर विषयतारूप सृष्टि है जिस पर दृष्टि जाने से मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है और निगाह में वही सृष्टि समायी रहती है। फलाशा से प्रतिदिन उसमें दृढ आसक्त होता रहता है और इस तरह भगवत्क्रीडा चिरकाल तक चलती है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो दुनियामें तीन ही पदार्थ है। इदंवाच्य, अहंवाच्य और तद्वाच्य। पिण्ड ब्रह्माण्ड किंवा सारा जड जगत् इदंवाच्य पदार्थ है। आत्मा (जीव) अहंवाच्य पदार्थ है और विशुद्ध (दुःख से न मिला हुआ) आनन्द तद्वाच्य पदार्थ है। पिण्ड ब्रह्माण्ड को किंवा सारे जड़ जगत को हम किसी-न-किसी तरह आपाततः प्रत्यक्षद्वारा जानते हैं इसलिये इदंवाच्य है। आत्मा को, प्रत्यक्ष न होने पर भी विशुद्ध मन के द्वारा हम अपनपारूप जानते हैं इसलिये जीव अहंवाच्य है और दुःखरहित अनन्त सुख तो न प्रत्यक्ष है और न अपनपारूप है, सर्वथा परोक्ष ही रहता है, वेद भी उसे 'नेति नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कहता है इसलिए वह तद्वाच्य पदार्थ है। इन्हीं तीन पदार्थो को शास्त्र में तत्त्व, आत्मा और भगवान् कहा है। तत् का ही एक प्रकार होने से तत्त्व कहा गया है। वे इदंवाच्य जगत्तत्त्व २८ हैं, और फिर अनन्त हैं। सारा जड

जगत् तत्त्व है। जीव भी जो भगवान् का ही एक प्रकार है वह आत्मा है। सारे जगत् में फैला हुआ है इसलिये आत्मा है। आनन्द भी लोकसुख व्यष्टि अन्तर्यामी और स्वर्गादिरूप में फैला हुआ प्रकार ही है और सच्चिदानन्द आश्रय भगवान् है। यद्यपि सत्-चित्-आनन्द तीनों, तीनों में हैं तथापि 'प्रधानाभिहारन्याय' से सत् तत्त्व, चित् आत्मा, और आनन्द भगवान् कहे जाते हैं। आत्मा अनुभवरूप है, चिद्रूप है। यह अनुभवरूप चित्, सच्चिदानन्दके मध्यमें है इसलिये दोनों के साथ इसका अन्वय रहता है, और अपने साथ भी। अथवा यों कहो कि तीनों तीनों के साथ अन्वित रहते हैं, ये पदार्थमात्र का आधिदैविक स्वरूप है। यह प्रविष्टाप्रविष्ट है। 'प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्'।

चित्पदार्थ पृथक् रहते हुए भी तीनों से मिला हुआ रहता है। सच्चित्, चिच्चित्, चिदानन्द किंवा सच्चिदानन्द। [१]अनुभव के बिना सत् (जड) की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। इसी तरह चित् के साथ भी यदि आश्रयरूप चित् न रहे तो चित्की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। 'घटमहं जानामि' 'घटको मैं जानता हूँ' इस समझ में तीन पदार्थ ठहरे हुए हैं; घट, अहं और घटका ज्ञान। किन्तु इन तीनों के साथ एक आश्रयरूप ज्ञान और भी है जिसने इन तीनों के साथ एक आश्रयरूप ज्ञान और भी है जिसने इन तीनों को अपनी गोद में ले रक्खा है। जिसने इन तीनों को प्रकाशित कर रक्खा है वह स्वाश्रयाश्रय स्वप्रकाश चिच्चिद्ब्रह्म है। समष्टिरूप से इसने सारे जगत् को प्रकाशित किया है। घट दृष्य पदार्थ ही यदि न रहता तो फिर घट और ज्ञान की किसी को खबर न होती और यदि दर्शन (ज्ञान ही) जगत् में कोई वस्तु न बनाया गया होता तो फिर न हमें हमारी और न घटकी खबर पड़ती, इसलिये यह

---

१ एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भागवत)

सिद्ध है कि तीनों को तीनों की बड़ी अपेक्षा है। किन्तु शास्त्र में इसे अन्योन्याश्रय-दोष कहा है। 'सापेक्षमसमर्थं भवति' दो नाव यदि आपस में बाँध दी जायँ तो वे दो रहते भी एक दूसरी की रक्षा नहीं कर सकतीं। इसी तरह अन्योन्याश्रययुक्त यह ज्ञान भी अपनी सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, अतएव इसे तुरीय ज्ञान की अपेक्षा हुई। यह ज्ञान स्वाश्रयाश्रय[1], स्वप्रकाश किंवा किंच्वित् (समझकी समझ) कहा जाता है। अनवस्था के डर से समझ को या किसी तरह से भी इसे स्वप्रकाश मानना ही उचित है। कहीं तो जाकर ठहरना ही पडेगा, अन्यथा ज्ञानमात्रकी सहस्र वर्षपर्यन्त सिद्धि ही नहीं होगी। जब कहीं तो जाकर ठहरना ही पड़ेगा इसलिये इस तुरीय ज्ञान को स्वाश्रयाश्रय स्वप्रकाश मानना ही उचित है। यदि कोई कहे कि अन्तर्यामी रूप शुद्ध जीव भी तो देह में मौजूद है, वह इस ज्ञान को सहारा दे सकता है, फिर इस चिच्वत् के मानने की क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर इतना ही है कि अन्तर्यामी तन्मध्यपतित होने से जीवरूप से ही ग्रहण किया जाता है इसलिए वह भी उन तीनों को नहीं जान सकता। अतएव इस स्वाश्रयाश्रय, स्वप्रकाश चिच्वित् की अपेक्षा ही है।

इसी प्रकार आनन्द के साथ भी यह चित् (अनुभव) रहता है। आनन्द के साथ यदि अनुभव न रहे तो वह भी अपनी सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि आनन्द की अनन्तता अगाधता होने

---

१ एकं त्रयाणां मध्ये एकतरस्य स्वातिरिक्तस्य अभावाद्धेतोः एकं नोपलभामहे, किन्तु भावेनैवोपलभामहे। एकमप्यन्ययोर्भावेन उपलभ्यते न त्वभावेन। तदा सापेक्षमसमर्थं भवतीति न तेषामन्यतरस्त्रितयं ज्ञातुंशक्तः अन्तर्याम्यपि स्व व्यापारे व्यावृत स्त्रियातम मध्ये प्रविष्टो नत्रितयं जानाति। एवं सति यस्त्रितयं वेद स आश्रयः। स आत्मा ⋯। अत एवास्य लीलात्वादात्मा विभूतित्वेन गणितः 'अहमात्मा गुडाकेश'। स तु आत्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति न तस्याश्रयान्तरापेक्षा। अनेन स्वप्रकाशः स इत्युक्तं भवति। (सुबोधिनी २।१०।९)

पर अनुभव (चित्) तिरोभूत हो जाय। सत्, चित् और आनन्द, तीनों ही ब्रह्म हैं अतएव तीनों देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न (नपे-तुले नहीं) हैं। 'सत्यं विज्ञानमानन्दम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' दोनों तरह की श्रुतियाँ इस सिद्धान्त को स्वीकार करती हैं। सृष्टि-अवस्था में या यों कहो कि प्रकट अवस्था में पृथक्-पृथक् अनुभव में आते रहने पर भी सत्, चित् आनन्द तीनों अनन्त हैं और सृष्टि के पूर्वापर अवस्था में अर्थात् अप्रकट अवस्था में भी तीनों अनन्त हैं। भिन्न होने पर भी अनन्त हैं, एक रहने पर भी अनन्त है। पृथक् हुए अनन्त सद्ब्रह्म का एक अंश यह सारा पाञ्चभौतिक जगत् है। पृथक् हुए अनन्त चिद्ब्रह्म का एक अंश यह दुनिया के सारे जीव और समस्त ज्ञान है और इसी तरह पृथक् हुए उस अनन्त आनन्दब्रह्म का एक अंश अन्तर्यामी स्वर्गादि सुख और यहाँ के आनन्द हैं। यह सच्चिदानन्दब्रह्म जिस समय एक, अद्वैत (भेदरहित), सर्वव्यापक और अदृश्य रहता है उस समय तत्, ब्रह्म, पर, परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, भगवान, अक्षर, आत्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। उस समय अक्षर, आत्मा (जीव), पुरुषोत्तम तीनों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। सृष्टि के पूर्व की या पीछे की बात को समझाने के लिये आगे होने वाले समय को लेकर कह देते हैं। क्योंकि सृष्टि के पूर्व या पर, काल की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) ही नहीं होती। इसलिये वहाँ की बात को समझाने के लिये काल की कल्पना कर लेते हैं। सच्चिदानन्द शब्द का यदि हम श्रुत्यनुमोदित भाषान्तर करना चाहें तो कह सकते हैं कि 'त्रिकालाबाधित अनन्तानन्दानुभव' अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहनेवाला

---

१ शक्तिधर्माणामपि तदोद्गतत्वाभावेन कालस्यापि निरूपणसमय एवं तथा वचनात्। सर्वभवनसमर्थात्स्वरूपादेव चेष्टावत्प्रादुर्भावः कालस्य।(सुबोधिनी २। ९।३२)

अनन्त और अन्त:सर्वविशेषसहित जो आनन्द का अनुभव वह सच्चिदानन्द भगवान् यही ब्रह्मवाद का मुख्य ब्रह्म है। अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार का रमण (क्रीडा) इसी पुरुषोत्तमका है।

सूतजी ने अपनी समझ के अनुसार इसी ब्रह्म को तत्त्व कहा है, और इसी को अद्वैतज्ञान भी कहा है-

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

सूतजी कहते हैं कि जो द्वैतनिवर्तक ज्ञान है वही वास्तविक तत्त्व है। उसे ही शास्त्रान्तरों में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्दों से कहा है। शब्दों का ही भेद है, पदार्थ तो सबका एक है। किन्तु श्रीशुक ब्रह्म का यह मत नहीं है, उनके मत में यह तत्त्व (सार-पदार्थ) श्रीपुरुषोत्तम भगवान् का एक ज्ञानरूप अंश है। जिसको हमने पूर्व में 'चिच्वित्' शब्द से कहा है। द्वितीय स्कन्ध में श्रीशुकदेवजी ने इस अद्वय ज्ञान का इस प्रकार निरूपण किया है-

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥

अर्थात् श्री पुरुषोत्तम का यह ज्ञानांश (चिच्वित्) विशुद्ध है, असहाय शूर है, अतिगूढ है, जैसा है वैसा ही उत्तम है, अपने स्वरूप में ही स्थित है, सर्वदा एकरूप है, पूर्ण है, उत्पत्तिप्रलयरहित है, निर्गुण है, नित्य है और सच्चिदानन्द रहते भी अद्वय है। अभिन्न है, एक ही है, ज्ञानरूप ही है। सूतजी का अद्वय ज्ञान और श्रीशुकदेवजी का यह विशुद्ध ज्ञान ही पुरुष शब्दवाच्य

---

१ यत्त्वद्वितीयं ज्ञानमिति, द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वमित्यर्थः। तस्यैव नामभेद इत्याह क्रमेण- ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति। शब्दमात्रं भिद्यते न त्वर्थभेदोऽस्ति। (सुबोधिनी १।२।११।)

है। शास्त्रों में अन्यत्र-अन्यत्र इसी को पुरूष भी कहा है। पुरुष अनेक हैं। वेद में पुरुषोत्तम अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्म को भी पुरुष कहा है। किन्तु यह पुरुष अक्षर का अंश रहते भी उन तीन प्रधान पुरुषों से भिन्न है। पुरुष शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं, 'पुरा आसेति' 'पुरिवसतीति' 'पुरमुषतीति' आदि। यह पुरुष पुरको अपना रूप देने से पुरुष कहा गया है। अष्टाविंशति तत्त्वों से पुर (ब्रह्माण्ड-पिण्ड) बनाकर आप ही उसमें निवास करने लगा और उसे अपने भीतर कर लिया। तब (भाविनी संज्ञा को लेकर यह पुरुष संज्ञा है) इसलिए पुरुष कहा गया 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' यह पुरुष अक्षर ब्रह्म का ही एक अंश है। एकादश स्कन्ध में जहाँ अक्षर ब्रह्म से या पुरुषोत्तम से सृष्टि के प्रारम्भ का निरूपण है वहाँ कहा है कि-

तन्मायाफलरूपेण द्विधा समभवद्बृहत्।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते।

अर्थात् वह अक्षर ब्रह्म माया (प्रकृति) और फल (ज्ञान) रूप से दो प्रकार का हो गया। उनमें एक भाग प्रकृति और दूसरा भाग जो ज्ञान, वह पुरुष कहा जाता है। यही पुरुष किसी कल्पमें जीव और अन्तर्यामी दो रूप बनाकर ब्रह्माण्ड किंवा पिण्ड (शरीर) में प्रवेश करता है और अनन्तर दो रूप हो जाता है। सृष्टि में आने के पहले, प्रवेश के पहले और 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस अनुप्रवेश और नामरूप व्याकरण (विवेक) के पहले, जो पुरुष का विशुद्ध अचिन्त्य अक्षर ब्रह्मात्मक स्वरूप है उसे ही तत्त्व, उसे ही विशुद्ध ज्ञान, उसे ही द्वितीय अक्षर, उसे ही पुरुष, उसे ही चिच्चित् और उसे ही स्वाश्रयाश्रय कहते हैं। यही पुरुष सारी सृष्टिका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्ता है। क्रमसृष्टिमें धीरे-धीरे विविध रूप धारण करता हुआ यही भगवान् जगत् की साक्षात् उत्पत्ति, स्थिति और

संहार करता है। परन्तु यह पुरुष अक्षर पुरुषोत्तमात्मक है। तदंश है। भा०द्वि० विमर्शाध्याय के प्रारम्भ में राजा परीक्षितने पूछा कि-

यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिररयं पुमान्।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥

हे ब्रह्मन्! भगवान्[1] किसको पैदा करता है। अपने-आपको? यदि अपने-आपको पैदा करता है तो अकेले आत्मा को पैदा करता है या शक्तिसहित आत्माको? शक्तिसाहित्य में भी प्रश्न है कि उत्पत्ति में प्राधान्यता आत्मा की रहती है या शक्तियों की या दोनों की? एक कार्य में एक ही शक्ति का उपयोग करता है या दो-चार का? और आत्मा को एक ही रूप बनाता है या विविध रूप? विविध रूपों में भी विरुद्ध रूप या अनुकूल ही रूप? और अपनी आत्मा को क्रीडा कराता हुआ किसी और को ऐसा करता है या अपने-आप ही खेलता हुआ अपने-आपको ही सब कुछ कर देता है?

इसके उत्तर देते हुए श्रीशुकदेवजी, परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण को नमस्कार करते हैं। सर्व सन्देहों को दूर करने की सामर्थ्य देनेवाला भगवान् ही है इसलिए बुद्धिप्रेरक कृष्ण का स्मरणकर उसको नमस्कार करते हैं। इन्हीं नमस्कारों में ही सर्वभागवत के सिद्धान्त का सार भी कह देते हैं। यह नमस्कार द्वितीय स्कन्ध के प्रारम्भ में करना उचित था क्योंकि प्रथम स्कन्ध के अन्त में राजा का प्रश्न हो चुका था और द्वितीय

---

१ अत्र सृज्य: पदार्थ: क:। किं केवल आत्मा, शक्तिसहितो या। साहित्येऽपि किमात्मैवोत्पद्यते, शक्तिरेव वा। एकस्यां कृतो यां शक्तिमुपाश्रित्य पुनर्द्वितीयकृतौ यां शक्तिमिति। यत: पुरुशक्ति:।········ विरुद्धमपि करोति, न करोति, विविधं वा करोति। आत्मानमेवक्रीडयन् ······· अथवा क्रीडन् आत्मानमेव करोतीति। (सुबोधिनी २। ४ । ७)

के प्रारम्भ में श्रीशुकदेवजी ने उत्तर देने का प्रारम्भ किया था परन्तु उस समय राजा ने भगवत्सम्बन्धी प्रश्न नहीं किया था और अब भगवत्सम्बन्धी प्रश्न किया है अतएव भागवत का प्रारम्भ होता है इसलिये यहाँ ही स्वेष्टदेवतानमस्कार उचित है।

नमः परस्मै पुरुषाय भूय से सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने॥

भगवान् पुरुषोत्तम के अनेक रूप हैं। उनमें दो प्रधान हैं। एक अन्तःक्रीडास्वरूप और दूसरा बाह्यक्रीडास्वरूप। दोनों सार्वदिक हैं। अन्तःक्रीडा भी सर्वदा है और बाह्यक्रीडा भी सर्वदा है। यह बाह्य आन्तरभाव जीव दृष्टि से है। भगवत्स्वरूप में बाह्य-आन्तर-भेद नहीं है। आन्तरक्रीडास्वरूप भक्त्यैकलभ्य है, उसका निरूपण तीसरी नमस्कार में है और यह बाह्यक्रीडा के पूर्व का स्वरूप है। यह उसी पुरुषोत्तम का दूसरा स्वरूप है। यह प्रधान अक्षर ब्रह्म है, भगवच्चरणारविन्द है, भगवान् है। पुरुषोत्तमका और इसका अभेद है। यही भगवान् पाँच रूप धारण करता है और उन्हीं पाँचों रूपों का इस प्रथम नमस्कार में निरूपण है। इसी भगवान् की 'सर्गादि' दश लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत में है इसलिये इसे प्रथम नमस्कार किया है। अनन्तानन्द विविध विशेषयुक्त वह पुरुषोत्तम जब बाह्य रमण करना चाहता है, जब श्रुतिशास्त्रों को सार्थकता देना चाहता है, जब वह अपनी सत्ता सिद्ध कराना चाहता है, जब अपने स्वरूप का आप ही आनन्द लेना चाहता है अर्थात् जब वह जगत् की रचना करना चाहता है तब सबसे पहले मूलरूप धारण करता है। यह मूलरूप चरणारविन्द अक्षर है। सर्वत्र प्रविष्ट रहने से इसे विष्णु और महाविष्णु भी कहा है। वह सबका मूल था, यह सृष्टिका मूल है। दोनों मूलरूप हैं। सृष्टि भी दोनों से होती है। तदनन्तर

इसी मूलरूप को सृष्टि, स्थिति, प्रलय, भोग और मोक्ष देने के लिये मूल समष्टि-व्यष्टि अन्तर्यामी और फलरूप बनाता है। अर्थात् उस प्रधानाक्षरका पहला रूप मूल है, दूसरा समष्टि पुरुष (ब्रह्माण्डसहित) भगवान्। तीसरा व्यष्टि (अनन्त दोनों तरह के जीव पिण्ड), चौथा अन्तर्यामी और पाँचवाँ (समष्टि-व्यष्टि) फल। यह मूल सृष्टिके पूर्व असङ्ग, उदासीन, अव्यय रहता है। इसका पूरा वर्णन हम पूर्व में 'विशुद्धं केवलं ज्ञानम्' 'ज्ञानं त्वन्यतमो भाव:' श्लोकों में कर चुके हैं। यही फिर सशरीर साकार होता है तब पुरुष कहा जाता है। यह भगवान् पुरुषोत्तम का पहला आविर्भाव है इसलिये इसे आद्य अवतार कहा गया है। 'आद्योऽवतार: पुरुष: परस्य' मूलरूप का पहला अवतार पुरुष है।

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभि: ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

भगवान्[1] मूलरूप ने पहला अवतार पुरुषरूप ग्रहण किया। ब्रह्माण्डरूप पुरुषाकार ग्रहण करने से पुरुष कहे गये। यद्यपि ब्रह्माण्डरूप पुरुषाकार ग्रहण करने से पुरुष कहे गये। यद्यपि ब्रह्माण्ड को भी पुरुषाकारता इन्हीं के आकार से मिली है तथापि ये पुर को अग्निरूप बना देते (अपना रूप दे

---

१ अत्र तादृशाधिकारिजीवस्याभावात्स्वयमेव पुरुषो जात:। ... तत्र द्वितीयमाह तप्ताय:पिण्डमिय। अण्डजत्यादन्तरेय सर्वनिर्माणं सर्वस्यापि मुक्तिदानार्थम्। शुद्धसत्त्वात्मकं शरीरमिव पुरुषरूपं तत्त्वैर्निर्मितं स्वयं गृहीतवान्। अप्सु बीजब्रह्माण्डवैलक्षण्यामाह-महदादिभिरिति। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राभि: सप्तभि:। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि च षोडशकला:। एवं प्राकृतिको गणस्त्रयोविंश:। अस्यां सृष्टौ प्रकृतिपुरुषौ स्वयमेव। इयं हि आद्या सृष्टि:। द्वितीयादिसृष्टावधिकारिपुरुषाणां सुलभत्वात्। लोकास्तु स्वादरस्थिता:। तेषां सृष्टि: उदरे च स्थितिर्द्वयं यथा भवति तथा करणार्थे ब्रह्माण्डदेह: परिगृहीत: ।(सुबोधिनी १। ३। १)तत्र यो वैराज: पुरुषो द्वितीयपुरुषरूपो य: सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्ध: असावित्यनुभवसिद्धश्च स एव विराट् शरीरे प्रविष्ट: न तु जीवविशेष: कश्चित्। (सुबोधिनी २ । १ । २५)

देते) हैं इसलिये पुरुष कहे जाते हैं। 'पुरमुषतीति पुरुषः'। भगवान् जिसको अपना प्रवेशस्थान (शरीर) बनाता है उसे अपना रूप कर लेता है। लोहगोलक में जब अग्नि प्रवेश करता है तो गोले को भी अग्निरूप दे देता है। यह सृष्टि प्राथमिक है इसलिये सर्व कार्य करने में समर्थ कोई दूसरा अधिकारी जीव था नहीं इसलिये स्वयं भगवान् ही (मूल पुरुष ही) पुरुषरूप हुए। इस सृष्टि में भी प्राकृतिक सृष्टिकी तरह सब पदार्थ होते हैं किन्तु वे प्राकृत नहीं किन्तु अप्राकृत, आधिदैविक, ब्रह्मात्मक होते हैं। महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय और पाँच महाभूत, इस तरह एकविंश पदार्थों के समूह का शरीर बनाकर उसमें आप स्वयं प्रविष्ट हुआ। इस सृष्टि में प्रकृति और पुरुष दोनों ब्रह्मरूप हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में सबसे पहले ब्रह्मकल्प (समय का लंबा टुकड़ा) होता है। उस कल्प में सारी सृष्टि ब्रह्मरूप होती है। काल, शक्ति, धर्म, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, महत्तत्त्वादि सब पदार्थ भगवान् ही होते हैं। आधिदैविक जगत्, आध्यात्मिक जगत् और आधिभौतिक जगत्, तीनों प्रकार के जगत् में 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' न्यायसे सब पदार्थ होते हैं। तीनों जगत् में माया रहती है, तथापि तीनों में भेद है। तीनों जगत् में माया के स्वरूप और कार्य पृथक्-पृथक् रहते हैं। एक इस प्राथमिक जगत् का ब्रह्म से सर्वथा अभेद है। श्रुतियों में इसका वर्णन है-

'तदात्मानः स्वयमकुरुत।' 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः।'

भागवत में भी-

'अहमेवासमेवाग्रे', 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।'

- इत्यादि द्वितीय स्कन्ध में प्रायः एकदम भगवदभिन्न जगत्का निरूपण है। 'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः' इत्यादि प्रथम स्कन्ध में भी भगवदभिन्न जगत्की सूचना की है। तीन प्रकार के अधिकारियों को तीन

प्रकार से जगत् का भान होता है। उत्तम अधिकारियों को तीन प्रकार से जगत् का भान होता है। उत्तम अधिकारियों को केवल शुद्ध ब्रह्म ही-भगवान् ही जगत् दीखता है और मध्यम अधिकारियों को 'इदं विश्वं भगवानिव इतरः' यह सारा दूसरा भगवान्-जैसा दीखता है। अर्थात् कुछ भेद भी और अभेद भी। तीसरे कनिष्ठ अधिकारियों को 'इदं विश्वं, भगवान् इतरः' यह जगत् है और यह भगवान् (ब्रह्म) उससे पृथक् है।

प्रथम जगत् आधिदैविक प्रपञ्च केवल विस्तारमात्र है, वहाँ त्याज्य पदार्थ नहीं है। ग्राह्य-ही-ग्राह्य है। सर्व आश्रय-ही-आश्रय है। उस समय सब कार्य भगवान् से ही चलते हैं। ब्रह्माने विचारपूर्वक देखकर भी भगवदवयवों के सिवा अन्य पदार्थ ही जब न देखे तो फिर उन भगवदवयवों से ही यज्ञ किया।

पूर्वोक्त ज्ञानप्रधान पुरुषरूप भगवान् ने अपने सृज्य पदार्थ (जगत्) की वीक्षा (विचार) करके सबसे पहले अपने सत्-चित्-आनन्द-धर्मों का पृथक्-पृथक् और उत्कर्षापकर्षरूप से आविर्भाव किया। उत्पन्न हुए वे तीनों धर्म धर्मीरूप हुए। अतएव उनकी शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् और उत्कर्षापकर्षपूर्वक प्रकट हुईं और तदनन्तर उन दोनों से कार्य का प्राकट्य हुआ। अर्थात् वह ज्ञान प्रधान सच्चिदानन्द भगवान् ही धर्मरूप,[1]

---

१ भगवान् स्वधर्मरूपः प्रथमं भवति। पश्चाच्छक्तिरूपः कार्यरूपश्च (सुबो० १।१०।२०)। उपादानत्वं करणत्वं कर्तृत्वं स्वस्यैवेत्याह, आत्मा स्वयमेव कर्ता। आत्मनि स्वस्मिन्नेवाधिकरणे। आत्मना स्वेनैव करणेन। आत्मानं विश्वरूपं स्वयमेव कर्म। अनेन अन्येऽपिविभक्त्यर्थाः ज्ञातव्याः। न केवलमुत्पादयति, संयच्छति मारयति, पाति रक्षति। युक्तिस्त्वत्र महायोगसिद्धो बाह्यसाधनव्यतिरेकेण स्वेच्छया बहुरूपो भवति। भगवति तु योगादिकमपि नापेक्ष्यते। सर्वसामर्थ्ययुक्तं स्वरूपमेव तथाभूतं यतः। (सुबो० २।६।३८)। द्रष्टा हि कार्यं कर्तुं शक्यम्। न हि ज्ञानमात्रेण कर्तुं शक्यमित्याह-ईशः समर्थः सर्वं कर्तुम्।

शक्तिरूप और कार्यरूप हो गया। यही सबका उपादान, यही कर्ता और यही सबका करण भी है। इस सृष्टि में सर्व विभक्तियों का अर्थ, प्रकार, सब कुछ यह पुरुष ही है। यही बात श्रीशुकदेवजी ने 'नमः परस्मै' इस नमस्कार-श्लोक में 'भूय से' शब्द से कह दी है अर्थात् यह पुरुष ही अनेक रूप से फैल गया। ज्ञानप्रधान होने से यह पुरुष दृष्टा भी है। द्रष्टा के बिना कार्य की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध होना असम्भव है। लोक में कितने ही ज्ञाता होकर भी कृतिशक्ति न होने से कार्य करने में असमर्थ होते हैं किन्तु यह पुरुष ईश भी है अर्थात् सर्व कार्य करने में समर्थ है। क्रियाज्ञानशक्ति रहने पर भी यदि लौकिक पुरुषों की तरह क्रिया का आवेश आ जाय तो आत्मा में विकार होने की सम्भावना है इसलिये कहते हैं कि यह पुरुष निर्विकार रहकर ही सर्व पदार्थों को पैदा करता है। कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं किन्तु वे स्वयं विकृत नहीं होते।

फिर भी यहाँ एक प्रश्न होता है कि भगवान् को जगत् बनाने का क्या

---

१ ननु क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेऽपि व्यापारावेशे लौकिकवत्क्लेशसम्भवादात्मनो विकृतत्वापत्तेर्भगवतः कर्तृत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याहकूटस्थस्य। स हि सर्वं करोति कूटस्थ एव न तु विक्रियते। यथा कामधेनुः कल्पवृक्षश्चिन्तामणिर्वा, योगी वा मनसा सृजति। ननु भगवान् सृष्टिं नार्हति कर्तुम्। प्रयोजनविरोधात्। स हि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति। स्वार्थ करणे जीवानामनुत्पादनं स्यात्। ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत। सर्वेऽपि मार्गा विरुध्येरन्। बन्धमोक्षाद्यभावात्। वैचित्र्यमज्ञानं च न स्यात्। अत उभयार्थं जीवार्थं वा कर्तव्यमिति मन्तव्यम्। तत्र स्वांशे स्वस्यानन्दपूर्णत्वं भज्येत। परार्थत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयातां अत आह- अखिलात्मनः। अखिलानामात्मा। आत्मसृष्टेर्न वैषम्यादि। आनन्दादिविरोधस्तु नास्ति। अखिलत्वात्। यथा खिला आत्मानो न भवन्ति केनाप्यंशेन। एवं स्वस्य यः पूर्ण आनन्दस्तस्याप्यात्मा।

(सुबो० २।५।१७)

प्रयोजन है? क्या वह अपने लिये जगत् बनाता है? यदि अपने लिये सृष्टि करता है तो फिर जीव को उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी और यदि जीव ही न बनाये जायँ तो फिर भक्ति, ज्ञान, कर्मादि मार्ग, बन्धमोक्ष और शास्त्रादि सबकी निरर्थकता आ जाती है। यदि कहो, अपने और जीव दोनों के लिये जगत् बनाया जाता है तो भी शंका होती है कि अपने लिये तो कोई भी कार्य तब किया जाता है जब कोई अपेक्षा हो या आनन्द में कुछ कमी हो। यदि ऐसा हो तो फिर भगवान् के आनन्द में अपूर्णता आयेगी और जीव के लिये बनाने में भी भगवान् में वैषम्य और निर्दयता दोष आते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अखिलात्मा हैं। अखिलात्मा के दो समास करने उचित हैं। अखिलानां आत्मा। न खिल: अखिल: अखिल: आत्मा यस्य स:। सारे जीवों का भी मूलद्रव्य यही पुरुष है अर्थात् आप ही सारी सृष्टि हो गया है। जब आप ही सब कुछ हो गया है तब वैषम्य, नैर्घृण्य दोष कैसे? हम अपने पैरों से चलते हैं और मुख को दूध पिलाते हैं इसमें हमें कोई भी विषम या निर्दय नहीं कहता। क्योंकि हमारे सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। इसी तरह इस प्राथमिक सृष्टि में भगवान् ही सब कुछ है, अन्य है ही नहीं। अतएव वैषम्य, नैर्घृण्य दोष नहीं हो सकते। आनन्द में अपूर्णता भी नहीं आती, क्योंकि उसका स्वरूप ही स्वभाव से अखिल है, पूर्ण है।

भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर ब्रह्माजी से कहा है कि–

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २।९।३३)

ब्रह्मा के प्रश्न के उत्तर में भगवान् आज्ञा करते हैं कि हे ब्रह्मन्! ले यह विज्ञानसहित ज्ञान, मैं तुझे देता हूँ, ग्रहण कर। एक को ही विविधरूप

से देख लेने को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और विज्ञान में जब वस्तु की एकता ठहर जाती है तब वह सिद्धान्त पूर्ण कहा जा सकता है अन्यथा नहीं।

भगवान् अपने जिस रूप को जगत् बनाते हैं सबसे पहले उसका निरूपण करते हैं–अहमेव आसमेव। हे ब्रह्मन्! सबसे पहले मैं था और मैं ही था। और मैं ही जगद्रूप हो गया हूँ। जगत् में मेरे सिवा कुछ नही है। मेरे रूप में जो कुछ अन्यथा भान हो रहा है यह सब मेरी माया (सर्वभवन सामर्थ्य और मोहिनी) का प्रभाव है। मैं ही जगत् हो गया हूँ। तुम्हें मेरे स्वरूप से अलग जो कुछ दीख रहा है यह मेरी माया से दीख रहा है। देहादि पदार्थ भगवान् से पृथक् हैं, उनमें जीव भी पृथक् ही है जैसे घटादि के मध्य में आकाश की प्रतीति होती है। आधार और आधेय तथा उनका धर्म एवं बाह्य और आभ्यान्तरभाव का कारण भी मैं ही हूँ। स्वरूप से मूलभूत (आधिदैविक) जगत्, और प्रतीति से मायारूप जगत्, उसमें प्रवेश करने वाला दोनों तरह का जीव, इस तरह यह सारा जगत् मैं (भगवान्) ही हूँ यह समझना उचित है। अर्थात् जडजीवप्रतीति और माया प्रभृति सब पुरुषोत्तम है यह पूर्ण ज्ञान है–

एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः।
वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः॥

–इत्यादि श्रुतियाँ कह रही हैं कि सृष्टि के उत्पन्न होने के पहले यह सारा जगत् नारायण था, वासुदेव था। उस समय न ब्रह्मा थे और न शङ्कर थे। प्रतिनियत नामरूप से कुछ भी न था और था तो सब कुछ था एक था सद्रूप था। ब्रह्म से पूर्व तो कोई तब हो सकता है जब वह कभी भी न हो, किन्तु ऐसा कभी नहीं था 'अहम् आसमेव' 'मैं परब्रह्म सबसे पहले ही था।' यह जगत् भी था। किन्तु एकरूप, ब्रह्मरूप, सद्रूप था।

१ यादृग्रूपं भगवान् जगत्करोति तच्छिक्षायां प्रार्थितम्। तत्राह–अहमेव तद्रूपो जातः नान्यदिति। अन्यथाभानं च मन्माययेति। जडे देहादौ मध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादावाकाशप्रतीतिवत् आधाराधेयभावो बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्चाहमेवेति। स्वरूपतो मूलभूतं जगत्, प्रतीतियो माया-

यदि कोई कहे कि 'असद्वा इदमग्रे' यह श्रुति, पहले कुछ नहीं था कह रही है तो इससे मालूम होता है कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्म भी नहीं था तो इसका उत्तर इतना ही है कि पूर्वोक्त श्रुतिका यह आशय नहीं है। वह तो कह रही है कि पूर्वोक्त श्रुति का यह आशय नहीं है। वह तो कह रही है कि आप लोग जिस जगत् को प्रतिनियत रूपनाम देख रहे हो अथवा जैसा कुछ देख रहे हो सृष्टि के पूर्व में यह वैसा नहीं था, एक रूप था, ब्रह्मरूप था।

कितने ही कहते हैं कि 'नासदासीन्नो सदासीत्' यह श्रुति कह रही है कि सृष्टि के पूर्व में न सत् था और न असत् था, अर्थात् सदसद्विलक्षण कोई पदार्थ रहा होगा तो इसका उत्तर यह है कि नहीं, यह श्रुति तो कह रही है कि प्रतिनियत रूपनामसे न सत् (स्थूल पदार्थ) था और न असत्

रूपम्, अनुप्रवेश को जीव इति सर्वं जगत्सर्वप्रकारेणाहमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा मन्तव्यम्। इयमेव शिक्षा। सर्वे जगत्कथं भगवानित्याकाङ्क्षायां तज्जलानिति हेतुं विस्तरेण वदति। सृष्टेः पूर्वे अहमेव 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः' 'वासुदेवो वा इदमग्रे आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः' इति श्रुतेः, सृष्टेः पूर्वमहमेव। मत्तोऽपि पूर्वमिति नाशङ्कनीयम्। यथा जगतः पूर्वमहम्, मत्तोऽपि पूर्वमन्यदिति तथा भवेत् यदि कदाचिदप्यहं नासम्। तत्तु मम न सम्भवति। सद्रूपेणैव निरूपणात्। 'सदेव सौम्येद'० 'एकमेवा'० इति श्रुतेरासमेव। अग्रे सृष्टेः पूर्वम्। 'असद्वा इदम्' इत्यादीनाम्, पश्चात्प्रतीयमानजगतः पूर्वमेतादृशरूपेणानवस्थितत्वप्रतिपादकत्वात्। अन्यथा असतः सत्ताबोधकत्वे विरोधात्। 'नासतो'इति वाक्यविरोधात्। 'नासदासीन्नो' इत्यादेस्तु स्थूलसूक्ष्मकार्यपरत्वम्। 'आपो वा इदमग्रे सलिलम्' इति त्ववान्तरकल्पाभिप्रायेण। 'अव्यक्तादीनि' इति तु अव्यक्तरूपं ब्रह्मैव। लीनत्वकल्पकस्य पश्चादेव सिद्धेः पूर्वलीनत्वम् सिद्धयति। अनेन 'प्रकृतिं पुरुषं चैवेत्यपि निरस्तम्। मतान्तरत्यात्। 'आसीज्ज्ञान'मिति वाक्यविरोधाच्च। 'तम आसी' दिति तमो ब्रह्मैव, सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्। अत एव श्रुतिसिद्धत्वादन्यानि तत्काले निषेधति 'नान्यत्'। सच्छब्देनासच्छब्देन च ब्रह्मैवोच्यते। योऽस्मात्परस्माच्च परः परशब्देनापि न कालादिरुच्यते, किन्त्वहमेव। किञ्च पश्चादहम्, सर्वभवनसमर्थत्स्वरूपादेव चेष्टायत्प्रादुर्भावः कालस्य। पश्चाद् गुणरूपेण शक्तिरूपेण कार्यरूपेण 'स आत्मानᳪस्वयमकुरुत' इति श्रुतेः। जीवजडात्मकं सर्वमहमेव। अयं मुख्यो ब्रह्मवादः। (सुबो० २।९।३२)

(सूक्ष्म पदार्थ) था, अर्थात् अज्ञेय, अमेय एक ब्रह्म था। यदि कहो कि 'आपो वा इदमग्रे' इस श्रुति में सबसे पहले जल का होना कहा है तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व ब्रह्म से पृथक जलादि पदार्थ भी था तो इसका उत्तर यह है कि यह बात सबसे पहले सर्ग की नहीं है किन्तु बीच-बीच में अवान्तर कल्पों में जो सृष्टि हुआ करती है, उसके पूर्व की बात है। सर्वप्रथम सृष्टिमें तो एक ब्रह्म ही था।

यदि 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इस गीतावाक्य को देखकर कहो कि सृष्टि के पूर्व में ब्रह्म के सिवा एक अव्यक्त पदार्थ और भी था तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस श्लोक में तो अव्यक्त शब्द से अक्षर ब्रह्म का ही निर्देश है। गीता में ही अन्यत्र 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' आदि वचनों में अव्यक्त शब्दका अक्षर ब्रह्म अर्थ किया है। यदि कहो कि गीता में तो 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि कहे हैं तो फिर आपका 'सर्वं ब्रह्म' यह वाद कहाँ गया? तो इसका इतना ही उत्तर है कि यह मत तो सांख्यका है। भगवान् ने विचार के लिये उसे वहाँ दिखाया है। अन्यथा 'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्' आदि वचनों का विरोध आयेगा।

श्रीमद्भागवत में कहा है कि सृष्टि के पूर्व में एक ज्ञानप्रधान अक्षर ब्रह्मरूप पुरुष ही था और वही फिर प्रकृतिपुरुषरूप हो गया। प्रकृतिपुरुष को ब्रह्मरूप मानकर यदि अनादि मानते हो तो कोई दोष नहीं है। 'तम आसीत्तमसामूढमग्रे प्रकेतम्' आदि श्रुतियाँ भी तमः शब्द से पर ब्रह्म को ही कह रही हैं। परब्रह्म ही सृष्टि के पूर्व सुप्तशक्ति होने से शून्यतुल्य, तमतुल्य मालूम होता है इसलिये उसे तमः शब्दसे कहा गया है। इस तरह सृष्टि-अवस्था में ब्रह्म को ही अनेक नामों से निर्देश करनेवाले वाक्य, सबसे पूर्व परब्रह्म के ही एक रहने में बाधक नहीं हो सकते। सद् शब्दवाच्य असत् शब्दवाच्य तथा पर शब्द के कहने योग्य और कोई भी

पदार्थ सृष्टि के पूर्व में था ही नहीं। सत्, असत् और पर तीनों से प्रसिद्ध में ही एक केवल सृष्टि के पूर्व में था-

नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चाद् अहम् यदेतत् च (तदपि अहम्)

उसके बाद जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ तब भी मैं ही अनेक रूपों से प्रकट हुआ। सबसे पहले पुरुष की चेष्टारूप कालका प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर सत्, चित्, आनन्दरूप से (गुण या धर्म) भगवान् पृथक्-पृथक् अनन्तरूप में प्रादुर्भाव हुआ। उसके उन तीनों अंशों की शक्तियाँ प्रकट हुईं। सत् की क्रिया, चित् की मोहिनी और आनन्द की सर्वभवनसामर्थ्य। तदनन्तर इन दोनों के सम्मेलन से अनेक कार्यरूप में पुरुष ही फैल गया। चकार से और भी जो कुछ बाकी रह गया हो वह सब कुछ मैं (ब्रह्म) ही उस रूप में विद्यमान हूँ यह निश्चय समझ रखना चाहिए। इस तरह यह ब्रह्मकल्पमें ब्रह्मरूप सर्ग हुआ है। इसमें ब्रह्ममें और जगत् में अणुमात्र का भी भेद नहीं है। त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है, सब भगवान्-ही-भगवान् है अतएव यह मुख्य ब्रह्मवाद है।

व्यतिरेक से यदि विचार किया जाय तो सर्गप्रलयान्त में क्या शेष रहता है यह बात भी अन्यत्र कही है-

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञाः॥

ब्रह्मा की आयु जब पूरी हो जाती है तब प्रतिसञ्चर होने लग जाता है। उस समय सब कार्य अपने-अपने कारणों में मिल जाने लगते हैं। यह प्रतिनियत रूपनाम सारा जगत् अपने कारण पाँच महाभूतों में मिल जाता है। पञ्चमहाभूत अपने कारण आदिभूत (अहङ्कार) में मिल जाते हैं। व्यक्तरूप कारणकलाप अपने कारण पुरुषाक्षर में मिल जाता है और पुरुषाक्षर अपने

स्वरूप मूलस्वरूप भगवच्चरणारविन्द अक्षर ब्रह्ममें स्थित होता है उस समय अशेष नामरूप भगवान् पुरुषोत्तम ही केवल शेष रहते हैं।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'पुरुष एवेदꣳसर्वम्' 'सच्च त्यच्चाभवत्' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'

इत्यादि श्रुतियाँ सब इस आधिदैविकस्वरूप जगत् को कह रही है। आधिदैविक जगत् में और भगवान् में अणुमात्र भी भेद नहीं है, त्याज्य नहीं है, केवल विशुद्ध ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इस सृष्टि का द्वितीय स्कन्ध में प्रवेश्यरूप से सूक्ष्म वर्णन है। यह ब्रह्मकल्प में प्राथमिक सृष्टि होती है। आगे पाद्मकल्पादि में होने वाली सृष्टि को कार्य समर्थ बनानेवाली, उसको शक्ति देनेवाली, उसमें प्रवेश करनेवाली यह सृष्टि है। इस ब्राह्म जगत् के प्रवेश करने से ही वह पाद्म जगत् कार्यक्षम होता है। इस प्रवेश का वर्णन तृतीय स्कन्ध में है।

'तस्वापि द्रष्टु' 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' 'सर्वं पुरुष एवेदम्' 'पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य' 'अहमेवासमेवाग्रे' 'एतद्भगवतो रूपम्' 'स वाच्यवाचकतया'

इत्यादि द्वितीय स्कन्ध-वाक्यों में इस ब्राह्म आधिदैविक जगत् का निरूपण है। इसमें माया[१] प्रकृति गुणत्रय प्रभृति सब आध्यात्मिकादि जगत् में प्रवेश करना है, 'पुरः पुरुष आविशत्' इसलिये तत्सदृश रूपनाम को सुनकर भ्रम में आ जाना उचित नहीं है। दोनों जगत् पृथक्-पृथक् हैं। अपने सच्चित् आनन्दस्वरूप का परित्याग न करके अरूपनाम भी आगे होनेवाले जगत् जैसा ही प्रकट होकर सब जीवादि रूपों के नामरूप और क्रियाओं का धारण करता है, उन्हें बनाये रहता है। वास्तव में यह

---

१ वाच्यवाचकत्वं अनामरूपात्मनि नामरूपे विधाय तादृशो भूत्वा जगतः पालनादिकं करोति इति वाच्यवाचकतया स्वरूपाप्रच्युतब्रह्म रूपं सच्चिदानन्दं बिभ्रत सर्वेषामपि जीवानां नामरूपक्रिया धत्ते। यतो वस्तुतोऽकर्मकःसर्वकर्मरहितः। सर्वेषां नियामकश्च। एतादृशोऽपि सर्वानुत्पादयितुं त्रिगुणात्मकं अव्यक्तं च रूपं करोतीत्यर्थः। (सुबो० ३।१०।३६)

अकर्मक है, सबका नियामक है, तथापि सारे जगत् को उत्पन्न करने के लिए त्रिगुणात्मक और अव्यक्त रूप लेता है।

अविकृत[1] और विकृत दोनों जगत् एकत्र हैं किन्तु अमिलित हैं। विकृत भावों में अन्दर छिपे हुए अविकृत (आधिदैविक) पदार्थ रहते ही हैं। अविकृत भावों का ही रूपरसादिज्ञानसामर्थ्य और क्रियाशक्ति मुख्य है। विकृत भावों में तो उनके प्रवेश होने से गौण सामर्थ्य है। तथापि दोनों पदार्थ एकत्र कार्य करने के लिये इस ब्रह्माण्डदेह विराट् शरीर जगत् की रचना करते है। यही बात उत्तरार्द्ध दशम स्कन्ध में कही है-

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्त्यो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥

प्राणादिक[2] जितने अट्ठाईस तत्त्व हैं वे सब विराट् शरीर को पैदा करते हैं इसलिये वे विश्वस्त्रष्टा कहे जाते हैं, उन प्राणादि विश्वस्त्रष्टाओं की जो कुछ शक्तियाँ हैं वे सब आधिदैविक जगत्रूप भगवान् की हैं, न आध्यात्मिक और न आधिभौतिक पुरुषकी हैं। क्योंकि आध्यात्मिकादि पुरुष आधिदैविक

---

१ स एवाग्रे पूर्वमेव स्वप्रकृत्याधिदैविकस्वभावेनेदं भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा। अन्यर्थं जगत्सृष्टौ प्रवेशोपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थं कारणत्वेनैवाविर्भूतः। (सुबो० १०। ३ । १४)। अविकृता भावा आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि 'चक्षुषश्चक्षुःइत्यादिषु श्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थे तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्थैव चतुर्विंशतितत्त्वेः प्राकृतैः सह, नानावीर्या रूपरसादिज्ञापनसमर्था अन्योन्यममिलिताःकार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्यें, सर्वे संहत्य ब्रह्माण्डविग्रहं स्वराङ्गदेहं जनयन्ति। आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति।' (सुबो० १० ।३ १५।)

२ एतेषां याःशक्तयस्ताः परस्यैव आधिदैविकस्यैव न त्वाध्यात्मिकस्य। एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथं स्वतन्त्रतया कार्यें कुर्वन्ति। सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूपआधिदैविकापरपर्यायः 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन' इत्यादिश्रुतिवाच्यो भगवानेवेत्यर्थः। ननु जीवऽङ्गीकर्तव्योऽवश्यमिति अर्न्यामी वा जीवो वा स्वशक्त्याधानं करोतु किमन्तर्गडुना रूपान्तरेणेति चेत्तत्राह वैसादृश्यादिति। सर्ववस्तूनामात्मा विसदृशः चेतनत्वादन्येषां जडत्वात्। अतः प्रतिनियतपदार्थसिद्ध्यर्थे तत्स्वभावापन्नं अतिरिक्तमेव रूपमङ्गीकर्तव्यम्। कर्त्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः। चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो (सुबो० १० ।३६ ।६)

परतन्त्र हैं। 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' इत्यादि श्रुत्युक्त श्रोत्रादिरूप भगवान् जब उनमें शक्तिका आधान करते हैं तभी वे कार्य करने में समर्थ होते हैं। अन्यथा उनकी स्वतन्त्र कार्य करने की शक्ति नहीं है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जीव किंवा अन्तर्यामी आध्यात्मिकादि जगत्रूप भगवान के मानने की क्या आवश्यकता है? तो उसका उत्तर यह है कि 'वैसादृश्यात्'। दोनों में भेद है, सदृशता नहीं है। जीवान्तर्यामी कुछ और हैं और यह आधिदैविक जगत् कुछ और है। जीव चेतन है और बाकी रहा जड़ है किन्तु यह आधिदैविक रूप आनन्द है इसलिए विसदृश है। विसदृश पदार्थ विसदृश में शक्तिका आधान नहीं कर सकते। अन्धेकी चक्षु में कर्णेन्द्रिय देखने की शक्ति का आधान नहीं कर सकती, चक्षुरिन्द्रिय ही करती है। इसलिए तत्तत्पदार्थसदृश आधिदैविक जगत् एक पृथक् ही है। और वह फलरूप आनन्दमय भगवान् ही नाना रूप धारण किये सबके अन्तःप्रविष्ट है। उसके ऊपर आध्यात्मिक चित्स्वद्रूप जगत् है, और उसके ऊपर आधिभौतिक विषयतारूप जगत् है। जगत् में आधिदैविक जगत् और भी है इसके लिये श्रीमद्भागवत में एक साधक युक्ति भी दी है-

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरः।
यथा द्रव्यविकारेषु[१] ह्यन्यदा व्यावहारिकः॥ (१०।३६।१२)

अर्थात् दुनिया में जितने कृतिजन्य पदार्थ हैं वे सब नाश के प्रतियोगी (विरुद्ध) होते हैं। जहाँ घट है तो वहाँ उसका अभाव नहीं रह सकता, और

---

१ एवं कारणस्य कारणतामुक्त्वा कार्यस्यापि कार्यता भवानेवेत्याहनश्वरेष्विति। नाशप्रतियोगिकार्यम्। ततश्च कार्यस्य नाशे कार्यता नोपपद्येत, कार्यस्य नष्टत्वात्। अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यः, यः कार्यःकार्येषु स्थिरो भवति यस्य नष्टत्वं धर्मः। कार्यस्येति सम्बन्धश्च। स अनश्वरः सर्वदा स्थिरः स एकः सर्वानुस्यूतो वक्तव्य। यथा द्रव्यविकारेषु घटपटादिषु सोऽन्यो घटपटादिरूपो वर्तते......। घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहारं साधयति। अन्यथा सद्व्यवहारो बाधितार्थविषयकः कथ स्यात्। भूतले घटोनास्तीति। एवं धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयक एवेति सोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः। (सुबो० १० । ३६ । १२)

घटाभाव है तो घट नहीं। इस तरह सब कार्य नाशप्रतियोगी होते हैं। उस कार्य के अनेक धर्म होते हैं, जो उसमें रहते हैं, नीलत्व, रक्तत्व, कृतिजन्यत्व, नष्टत्व आदि। ये सब धर्म अनित्य हैं और इन धर्मों का धर्मी भी अनित्य है क्योंकि नील घटके समय रक्त घट नहीं है और अभग्न घट के समय में भग्न घट नहीं है। किन्तु इन नश्वर पदार्थों में एक कोई अप्रत्यक्ष और अनुभवैकवेद्य अनश्वर कार्य (पदार्थ) मानना ही पड़ेगा जिसका नष्टत्व आदि धर्म न रहे। इसलिये एक कोई सर्वपृथक् पदार्थ मानना ही होगा जो सब कार्यों में अनुस्यूत और स्थिर रहता है। जिसपर सब धर्मधर्मीव्यवहार होते रहते हैं। जितने द्रव्यविकार (घटपटादि) हैं उन सब में एक अन्य अनश्वर अविकृत पदार्थ माना ही जाता है। जिसके द्वारा घटाभाव के समय 'घटाभावोऽस्ति' यह अस्तिका व्यवहार होता है। असत् में सद्व्यवहार नहीं हो सकता। घटोत्पत्ति के पूर्व भी घटसत्ता माननी ही पड़ती है अन्यथा असत् की उत्पत्ति ही कैसे होगी, शशश्रृंगवत्। घटसत्ता में तो घट विद्यमान है ही और नाश के बाद भी तत्प्रतियोगी घट मानना ही पड़ेगा। जिसका वह नष्टत्व धर्म है। इस तरह सारे पदार्थों में स्थिर पदार्थ जो कोई है वह भगवान् आधिदैविक जगत् है यह सिद्ध होता है।

यह सर्वाधार है, इसकी सत्तापार ही आध्यात्मिक और आधिभौतिक् जगत् की सत्ता है। यह ग्राह्य है, वे दानों त्याज्य हैं। यद्यपि ये दोनों ही भगवान् हैं यह हम आगे स्पष्ट करेंगे तथापि प्रकार होने से त्याज्य हैं। जब वे आश्रयरूप होंगे तब वे भी ग्राह्य ही रहेंगे। जो-जो आश्रयरूप होता है वह सब ग्राह्य ही रहता हैं। आश्रय सच्चिदानन्द भगवान् है। उसमें भी अनन्तानन्द सच्चिदानन्द ग्राह्य और आश्रय है। अत:'सर्वं ब्रम्ह' यह मुख्य वाद है और यही भक्तिमार्ग के उपयोगी ब्रह्मवाद है।

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥

(त०नि०)

यह सारा[1] जगत् भगवान् से ही बना है इसलिये सब भगवान् ही है यों कार्यकारणभाव रखकर गौणब्रह्मवादपूर्वक जो प्रेम से नवधा भक्ति किंवा तनुजा-वित्तजा-सेवा करता है वह उत्तम भक्तिमार्गीय भक्त है। अथवा जो यह सारा जगत् केवल भगवान् ही है 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्' यों कार्यकारणभावका भी परित्याग करके केवल ग्राह्य ब्रह्मवादपूर्वक प्रेम से भगवान् की नवधा किंवा तनुजा-वित्तजा-सेवा करता है वह उत्तम भक्तिमार्गीय भक्त है। यह[2] लीलासृष्टि है, भगवान् के अपने वास्ते क्रीडा करने के लिये यह जगत् होता है। स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् सह एतावानास। यह प्राथमिक सृष्टि है, श्रौत सृष्टि है, लीलासृष्टि है, इसमें सब कुछ केवल भगवान् है।

अब दूसरी पौराण सृष्टि है। आध्यात्मिक सर्ग है। ब्रह्मोपादानक मायाकरणक जगत् है। कुछ ग्राह्य कुछ त्याज्य ब्रह्मवाद है। भेदाभेदवाद है। 'इदं हि विश्वं भगवानिव इतरः।' यह सारा जगत् दूसरा भगवान्-जैसा है। केवल भगवान नहीं। क्योंकि इसकी भगवान् से तो उत्पत्ति है किन्तु कुछ माया का भी सहारा है।

जिस समय भगवान् अपने स्वरूप का भोग आप करना चाहता है, जिस समय भगवान् अपना भोग जीव को कराना चाहता है अतएव

---

१ एवं सर्वे विनिश्चित्य, सर्वे भगवत एव, स एव च सर्वमिति गौणमुख्यज्ञानयुक्तप्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः। (त०नि०प्र०)।

२ कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः। लीलार्थे जीवानां क्लेशमसहमानः। अस्मिन्पक्षे नानन्दतिरोभावः।

वास्तव में बाह्य रमण करना चाहता है उस समय पुरुषपर्यन्त पूर्वोक्त प्रकार के तरह ही रूपान्तर धारण करता है। यह पुरुष द्वितीयाक्षर है। इसके लिये श्री शुकदेवजी ने नमस्कारश्लोक में 'भूयसे' पद दिया है। अर्थात् जो बहुत हुआ है, उस पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ। इस सर्गकी 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' श्रुति में सूचना की है। पूर्वोक्त सृष्टिमें 'स द्वितीयमैच्छत्' एक आप दूसरा अक्षर बस दो की इच्छा थी और यहाँ बहुभवनेच्छा भी है। इसलिये इस सर्ग में आविर्भाव-तिरोभाव-शक्ति का उपयोग भी हुआ है। 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।' पूर्वोक्त सृष्टि में वैचित्र्य और बहुभवन रहते भी कार्यता न होने से कारण और कारण-कारणरूप दो ही पदार्थ सब कुछ था। किन्तु यहाँ धर्मधर्मीशक्ति और कार्यरूप भी सर्ग है। यहाँ कुछ अंश में योगविस्मृति को भी सहारा दिया है। यह पौराण सृष्टि कारण-करणात्मक है। इसमें कारण का भी अंश है और करण का भी। कुछ विषय भी है और कुछ विषयता भी। क्योंकि जीव को भी भोग कराना है। रूपान्तरद्वारा भी भोगलीला करनी है।

इस द्वितीय सर्ग का यहाँ से प्रारम्भ होता है-

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः॥

श्रीमद्भागवत[1] पुराण है। दश लीलायुक्त वेदातिदेश शास्त्र का नाम पुराण है। भगवान् ने जिसे कहाहो, भगवान् का जिसमें प्रतिपादन हो, भगवान् ही

---

१ भागवतं नामेति, तदवान्तरभेदः। यौगिकश्चायम्, तेन भगवता प्रोक्तम्, भगवत्प्रतिपादकं भगवत्फलं चेति। एवं ब्रह्मवादं कर्तृवादं च निरूप्य एतादृशं रूपं भगवतः कस्मिन्काल इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मकल्प इत्युत्तरमाह-अयं तु ब्रह्मणः कल्पः। ब्रह्मकल्पे। अत एवात्र दशविधा लीलास्तुल्याः। सर्गादीनां विशेषाः पाद्मकल्पे भवन्ति। अतो भगवद्दशलीलाविस्तारार्थम् 'अथो' भिन्नप्रक्रमेण श्रृणु। (सुबो० २। १०। ४६)

जिसका फल हो, उसे भागवत कहते हैं। प्रथम भागवत द्वितीय स्कन्ध में हो चुकी। ब्रह्मा से भगवान् ने यह भागवत कही। अब द्वितीय भागवत का प्रारम्भ होता है। यह श्रीमद्भागवत परीक्षित से श्रीशुक ने और विदुर से श्रीमैत्रेय ने कही है। परीक्षित भगवद्गृहीत जीव है और विदुर भगवद्गृहीत देव है (धर्मराज भागवत)। इसलिये इसे आठ दिन लगे और विदुर को सुनाने में थोड़ा ही समय लगा। श्रीमद्भागवत (दशलीलायुक्त भगवान्) विषयक प्रश्न द्वितीय स्कन्ध में (अ०८) किया और विदुर ने तृतीय स्कन्ध में किया है। श्रीशुकदेवजी ने प्राथमिक सृष्टि से प्रारम्भ किया और मैत्रेय जी ने तृतीय स्कन्ध में किया है। श्रीशुकदेव जी ने प्राथमिक सृष्टि से प्रारम्भ किया और मैत्रेयजी ने तृतीय स्कन्ध की द्वितीय सृष्टिसे प्रारम्भ किया। राजा परीक्षित राजर्षि है इसलिये इसकी भागवत का ब्रह्मकल्प से प्रारम्भ हुआ। वह सृष्टि ब्राह्म है, मुख्य ब्रह्मवाद है, अतिसूक्ष्म है, वेदका ही 'सृती विचक्र मे अनुवाद है। इसलिये वहाँ से प्रारम्भ करना उचित हुआ और दूसरी बात यह है कि उसे सम्पूर्ण विस्तारसहित सुनाना है। किन्तु विदुर तात्कालिक शूद्र है 'न शुद्रस्य मतिम्' और उसे बहुत[1] संक्षेप से ही कहना पडेगा इसलिए मैत्रेय ने तृतीय स्कन्ध से ही प्रारम्भ किया यद्यपि विदुर ने प्रश्न बहुत-से किये थे तथापि उच्चाधिकारी होने से त्वरित फल हो गया अतएव थोड़ा ही कहना पड़ा।

ब्रह्म में दश लीला गुप्त एवं संक्षिप्त होती है अतएव यह भागवत प्रथम है और आधार (आश्रय) भी है। भगवान् में दशलीला प्रकट एवं विस्तृत हैं और आधेय हैं। इसलिये यह भागवत द्वितीय है और इसका

---

१ स पक्षोऽत्रैवर्णिकाय सर्वथा न वक्तव्य इति। 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः' 'असुर्यः शूद्रः' इति श्रुतेः। (सुबो० ३। ७। ८)विदुर मैत्रेयलक्षणस्य भागवतस्य शीघ्रफलत्वात्। (सुबो० २। १०। ४८)

प्रारम्भ द्वितीय पौराणसर्ग से प्रारम्भ हुआ। पुराणों में ब्रह्म को भगवान् कहा है। 'भागवते तथा' 'भगवानिति शब्द्यते'।

भगवान् की दश[1] लीलाओं में पहला चरित्र सर्ग है। किन्तु वह सर्ग ब्राह्म भी है और भागवत (भगवत्कृत) भी है। किन्तु यह भागवतपुराण है इसलिये भगवत्कृत सर्ग (द्वितीय जगत्) का ही वर्णन करना उचित है। राजा और विदुर के प्रश्न किये पदार्थ ब्रह्मकल्प में नहींथे इसलिये दूसरे कल्प के अनुसार कहना पड़ा। पद्मकल्प में भगवत्कृत चरित्र प्रश्नानुसारीपदार्थयुक्त है, इसलिये ब्रह्मकल्प के प्रलय के वाद की स्थिति का श्रीशुकदेवजी वर्णन करते हैं। 'उदाप्लुतम्'। कल्प एक समय के विभाग का नाम है। ये कालविभाग तीस हैं और अनन्त भी हैं। कल्पों के अवान्तर कल्पों का नाम विकल्प है। कल्प और विकल्प दोनों दो-दो तरह के होते हैं प्राकृत और वैकृत और फिर ये भी सब तीन-तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस। ब्रह्मकल्प और उसका विकल्प सबसे पृथक् हैं और आद्य हैं।

राजसकल्प में जगत् का जलप्रलय होता है। इस पद्मकल्प के पूर्व का कल्प राजस था ऐसा स्पष्ट होता है। उस समय राजसकल्प की

---

१ पुराणं हि दशलीलायुक्तम्। तत्रादौ सर्गो वक्तव्यः। स च भागवतत्वाद्भगवत्कृतः। तत्र पृष्टानामर्थानां ब्रह्मकल्पेऽभावात् कल्पान्तरानुसारेण वक्तव्यम्। यद्भगवतैव कृतम्। तच्चरित्रं पद्मकल्पे वर्तत इति तन्निरूपणार्थे पूर्वकल्पस्य प्रलयानन्तरस्थितिमनुवदति-उदकेन प्लुतं सर्वमेव विश्वमासीदिति। बहुविधा हि प्रलयाः। राजसेषु तु प्रलयजलेन निमग्नानि भवन्ति। तत्र पद्मकल्पात्पूर्वकल्पो राजस इति उदाप्लुतमित्युक्तम्। इदमिति सर्वदा विश्वमेकविधमेवेति। यद्यदा निद्रया भगवच्छक्त्यालुप्तज्ञानशक्तिरेवामीलितदृक् न्यमीलयत्, अक्षिमीलनं कृतवान्। निमीलिताक्षो जागर्तीत्यर्थः। स्वात्मरतौ कृतक्षण इति। 'कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्' इति सृष्टिप्रलयकरणे निमित्तमुक्तम्। आत्मरतावात्मनि क्री डायां स्वरूपानन्दरमणे। स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः। कदाचित्स्वानन्दमेवानुभवति। क्रिया बहीरमणेऽभिवृद्धिकरी, ज्ञानं त्वन्तः। अन्योन्यबाधकत्वं च। निरीहः सर्वचेष्टारहितः। (सुबोधिनी ३ ।८।१०)

अन्तिम और पद्मकल्प के प्रारम्भ की अवस्था थी, सारा जगत् जलनिमग्न था। जगत् के प्रकार सब एक प्रकार के ही होते हैं इसलिये 'इदम्' यह सामान्य वचन कहा। उस समय पूर्णानन्द यह भगवान् शेष की शय्या पर अकेले (द्वितीयाक्षरप्रथम पुरुष) सर्वज्ञ रहते भी कुछ आँखे मीचकर सोते हुए भी जाग रहे थे। अर्थात् अपने स्वरूपानन्द में रमण करते हुए निश्चेष्ट स्थित थे। आत्मरति में सुखका अखण्ड भोग होता है, ज्ञानक्रिया आन्तर रहती हैं, और अन्योन्य बाधकता नहीं रहती है और बाह्य रमण में उतना सुख विभक्तवत् हो जाता है। ज्ञानक्रिया बाह्य भी होती है और अन्योग्य बाधकता भी रहती है। यह भगवान् की प्रलयानन्तरीय सुषुप्ति का वर्णन है। भगवान् की यह विद्यामयी सुषुप्ति इसी प्रकार की होती है। जीव की सुषुप्ति अविद्यामयी कालके द्वारा पुरीतत् नाडी में जाने से होती है। किन्तु यह भगवान् की सुषुप्ति अपनी इच्छा से काल को प्रेरणा करते हुए अपने निजस्थान जल के सम्बन्ध में रहती है। इस प्रकार थोड़ी देर (कितने ही कल्प-विकल्प जितने समय) यह निरीह सुषुप्ति रही। तदनन्तर कुछ चेष्टा का प्रादुर्भाव हुआ। यह पहली चेष्टा-इच्छा है। इच्छा अनेक प्रकार की होती है। आन्तर रमणेच्छा से सुषुप्ति, मध्य रमणेच्छा से स्वप्नऔर बाह्य रमणेच्छा से जाग्रत् (प्रपञ्च) का प्रादुर्भाव होता है। भगवान् की यह जाग्रत (प्रपञ्च), चित् में रमण स्वप्न और आनन्द में रमण सुषुप्ति। तीनों पदार्थ केवल ब्रह्म हैं। भगवान् सर्वदा स्वरूप से ही क्रीडा करते हैं। सत्, चित् और आनन्द तीनों स्वरूपात्मक भी हैं और धर्मात्मक भी हैं। जब भगवान् निरीह सुषुप्ति में विराजते हैं उस समय धर्मधर्मी एक हैं, आनन्दघन हैं, आनन्दशरीर हैं तथापि आनन्दस्वरूप हैं। यह 'उदाप्लुतम्' श्लोक में निरूपण हो चुका। अब 'सोऽन्तःशरीरे' श्लोक

में जो अवस्था है वह निरीह सुषुप्ति नहीं है किन्तु कुछ इच्छासहित, शक्तिसहित, धर्मसहित है।

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः॥

यह सृष्टि केवल स्वोपादानक नहीं है किन्तु मायासहकृत है। पूर्व में प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि यह भगवल्लीला योगमायोपबृंहित है। इसलिये रमण में स्त्री की अपेक्षा हुई। श्रुति ने भी कहा है कि-

स आत्मानमेव द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।

भगवान् की पत्नी लक्ष्मीजी प्रसिद्ध हैं। जब भगवान् को विश्वसर्ग करने की इच्छा हुई तब अपने स्वरूप से अपने धर्मों को पृथक् कर दिये। स्वरूप और धर्म दो हुए-भगवान् पुरुषोत्तम और अक्षर ब्रह्म।

---

१ स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः। अक्षरानन्दस्तु लक्ष्मीरूपः पूर्वे निरूपितः। शरीरं त्वानन्दमयमिति पूर्वे निरूपितम्, सदानन्दमयं वा। सच्चिदानन्द रूपमिति तु वस्तुस्थितिः। पुरुषस्य सद्वाह्यम्। मध्ये ज्ञानम्। आनन्द स्त्वन्तः। स्त्रियास्तु विपरीतम्। तस्याः सत्येव रतिः, न त्वानन्दे कदाचिदपि। पुरुषस्य तु विपरीतम्। आनन्दानुभवस्तस्यान्तर एव युक्तो न बाह्ये, भेदकरणप्रसङ्गात्।आनन्दस्य स्वस्थानत्यागात्। न तादृशानन्दोऽनुभवयोग्यः। भगवत्यपि तथाबीजत्वात्। अतः सति रमणेऽक्षरानन्दं पृथक् कृत्य लक्ष्म्या सह रमते। चिति रमणे सदानन्दौ तस्यान्तर्बहिर्निधाय बाह्याभ्यन्तरभेदेन रमते। तत्र प्रपञ्चो वेदाश्च रमणसाधनम्। तत्राधिकारिणः कालस्य नियामकत्वात्, भगवदेकसम्भोगसम्पादकत्वाच्च, अंशानां भोगो मा भवत्विति तद्विषयानन्तः प्रवेश्य स्वात्मानुभवं करोतीति। ननु बहिः स्थितानां पदार्थानामन्तःस्थापितत्वात् कालस्य च विद्यमानत्वात् सर्वं जगद्बहिरागच्छेत् तत्राह यथानलो दारु०। यथा तस्य दाहकशक्तिर्निरुद्धा, तथा कालादीनां स्वस्यापि शक्तिर्निरुद्धा। (भाग० सु० ३। ८। ११) अपेक्षितानामर्थानां भिन्नकल्पेऽपि सम्भवे लीलाकथनसिद्ध्यर्थमेकरूपेण वर्तते। अतो नात्र विरोधोऽस्ति केनाप्यंशेन निश्चितम्।
(भाग० सु० ३। १३ कारिकाः १०-११)

यद्यपि अक्षर ब्रह्म धर्मरूप है तथापि सृष्टिकर्ता है इसलिये धर्मी भी है। ब्रह्मकल्प में इन दो से ही सारी सृष्टि हुई यह हम कह चुके हैं। जैसी इच्छा, वैसा, स्वरूप, वैसे धर्म, यह नियम है। इस समय योगमायोपबृंहिता क्रीडा करनी है। अर्थात् जिसमें पुरुष की मति हरण हो जाय ऐसी लीला करनी है। साधारण प्रेम में भी मति हरण होता है किन्तु स्त्री के प्रेम में मतिहरण अच्छा होता है इसलिये भगवान् को भी स्त्री की इच्छा हुई। अपने धर्मरूप अक्षर ब्रह्म ने ही लक्ष्मीरूप भी धारण किया। लोक में पुरुष और स्त्री दोनों सत्, चित्, आनन्द में रमण करते है। पुरुष में सदंश बाहर है, मध्य में चित् और अन्तः आनन्द है। किन्तु स्त्री के विपरीत हैं। आनन्द बाहर है, चित् मध्य में है और सत् अन्तः है। इस लोकन्याय के अनुसार जब भगवान् आनन्द में आत्मरति अन्तःरति करते है तब सुषुप्ति होती है, और जब मध्य चित् में रति करते हैं तब स्वप्न कहा जाता है (स्वप्नसृष्टि तीसरी है) और जब सत् में रमण करना चाहते हैं तब जाग्रत् अर्थात् प्रपञ्चप्रादुर्भाव होता है। कहाँ किस समय रमण करना यह भगवान् के लिये कोई नियम नहीं है, कर्ता की इच्छा पर है। जाग्रत में लक्ष्मी अनेकरूपरूपा ही रमणसाधन है और स्वप्न और सुषुप्ति में वेद और प्रपञ्च रमणसाधन हैं और चित् में रमण करते समय चित् के अन्तः और बहिः सत् और आनन्द को रखकर उस चित् को ही स्त्री का सा रूप देकर रमण करते हैं अर्थात् स्वप्न में माया के साथ रमण करते हैं। यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप भाव लोक में जिस तरह कर्ताकी इच्छापर निर्भर है इसी प्रकार भगवान् की इच्छापर निर्भर है। स्वकृत प्रपञ्च और मायाकृत प्राकृत प्रपञ्च दोनों में भगवान् के रमणसाधन प्रपञ्च और शेष (वेद) दोनों होते हैं। इस अर्ध सुषुप्ति के समय इच्छा के साथ चेष्टारूप काल भी

प्रकट रहता है। वह अधिकारी है। इसलिये वह यह निरीक्षण रखता है कि इस समय कोई दूसरे अंशभोग (सुखाद्यनुभव) न कर सकें केवल भगवान् का ही भोग सम्पादित हो। अतएव भोग-साधन भूतसूक्ष्मादि पदार्थ अन्तर्हित रहते हैं। सब चिदंशों को अपने स्वरूप में छिपाये रहते शयन करते हैं। उस समय केवल अपने-आपको ही अनुभव करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अधिकारी काल सर्वसमर्थ है। वह अन्तःस्थित पदार्थों को बाहर निकलवा सकता है। तो इसका उत्तर इतना ही है कि 'यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः।' अग्निजिस समय काष्ठ में रहता है। इसी प्रकार इस अवस्था में भगवान् भी अपने अंशों की, काल की और अपनी भी शक्तियों को रोके हुए शयन करते हैं। काल की केवल संहारिका शक्ति ही जागृत रहती है और सब शक्तियाँ सुप्त रहती हैं। जल भगवान् का सुषुप्ति और अर्धसुषुप्ति के समय का नाम निर्वाचक है (नारा अयनम्) इसलिये उस पर ही शयन करते हैं। यह जल उनका स्थान है। इस प्रकार से स्वनाम निर्वाचक प्रलयोदधिजल में शेषशय्यापर यह आनन्दमय (ब्रह्मकल्प में) किंवा सदानन्दमय (ब्रह्मकल्प के विकल्प में) भगवान् पुरुषोत्तमरूप नारायण अपनी सब शक्तियों को रोके हुए दिव्य सत्ययुगादि चारों युगों की हजार चौकड़ीपर्यन्त अन्तःक्रीडा करते रहे। तदनन्तर आनन्द का कुछ तिराभाव सा दिखाकर कालशक्ति के द्वारा चिच्छक्तिका उद्रेक किया। उस समय जगत् के सदंश और चिदंश को अर्थात् जिन्हें हम जीव और जड़ पदार्थ कहते हैं, उनको अपने सदंश में पिण्डीभूत देखे। अर्थात् अपने स्वरूप में ही लीन रहने से सृज्य पदार्थ का पृथक रूप से विवेचन नहीं हो सकता था। यह एक कल्प की पूर्वावस्था का निरूपण हैं। किसी दूसरे कल्प में दूसरी तरह से भी

पूर्वावस्था का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में अनेक कल्पों के पदार्थों में से अपेक्षित पदार्थों का सम्मेलन करके एकत्र वर्णन कर दिया है। क्योंकि श्रीमद्भागवत इतिहास और पुराणों का सार है–

इतिहासपुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्।

अन्यत्र भी इस जगत् की रचना को पूर्वावस्था का निरूपण है–

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥

यह[1] सारा जगत् पहले भगवान् ही था। भगवान् ही फिर दो तरह से जगत् बन जाता है– शुद्ध और मिश्रभेद से। जगत का शुद्ध भेद तो पूर्व में इसी ग्रन्थ में हम कह चुके हैं और जिसका श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध में प्रायः संक्षेप से निरूपण है। यद्यपि यह शुद्ध भगवद्रूप भवन जगत् किंवा ब्रह्म का रूपान्तर केवल वेद में वर्णित है तथापि प्रवेश्य जगत् का तृतीय स्कन्ध में वर्णन होगा, इसलिये द्वितीय स्कन्ध भागवत में भी उसका दिग्दर्शन करा दिया है वेदोक्त ब्राह्म सर्ग है तो पौराण सर्ग योगमायोपबृंहित है, भागवत है और अतएव मिश्र है।

योगमायोपबृंहिता भगवत्लीला में भगवान् का ही एक रूप जगत् भी है और यह प्रवाहानादिरूप से अनादि और अनन्त है। कभी इसका

---

१ इदं सर्वं जगत् पूर्वं भगवानेवास। शुद्धा तु भगवल्लीला भगवानवैवंप्रकारेण भवतीति। योगमायोपबृंहिता तु इदम्, जगदेकं रूपं भगवतः प्रवाहानादिप्रकारेण आविर्भावतिरोभावयुक्तमनाद्यनन्तं वर्तते। तिरोभावे तद्भगवानेव भवति, यथा लवणं जलमेव भवति। तथापि न तयोः स्वरूपैक्यम्। तस्य मिष्टो रसः, अस्य च लवणः। परं विवेचयितुं न शक्यत इति भगवत्त्वम्। अनन्तमूर्तौ च भगवति न तस्य तिरोभावः किन्त्वेकस्मिन्नेव। आसेति तत्र न भगवत्कर्तव्यता। विलीनं लवणं जले स्वत एव भवति, ततः पृथक्करणं तु महत् कठिनं भगवदेकसाध्यम्। अत इदं भगवच्चरित्रमुच्यते।

आविर्भाव होता है तो कभी तिरोभाव होता है। भगवान् का यह रूप आविर्भाव-अवस्था में जगत् कहा जाता है और तिरोभाव में फिर भगवान् ही हो जाता है। इतना रहते भी भगवान् का और इस भगवद्रूप जगत् का ऐक्य नहीं है। मीठे जल में लवण को डालने से वह अपने-आप समय पर जल हो जाता है तथापि जल और लवण एक नहीं कह सकते और न वे दोनों एक हैं। क्योंकि जल मधुर रस है और लवण का क्षार। इसी प्रकार यद्यपि वह तिरोभाव अवस्था में भगवान् की अनन्त मूर्तियों में से किसी एक नियत मूर्ति में मिल भी जाता है तथापि भगवान् और यह जगत् दोनों एक नहीं है। जल में लवण अपने-आप जल हो जाता है पर फिर उसे लवण बनाना श्रम और बुद्धिसाध्य है। इसी तरह प्रलयानन्तर फिर उसे जगत् बनाना भगवदेकसाध्य है। इसीलिये सर्गकी (प्रलय की नहीं) भगवच्चरित्र में गणना की गयी है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि प्रलयसामयिक जीव चिदंश है, उन सबका एक ही भगवदंश में (मूर्ति में) लय कैसे होता है। इसका उत्तर इतना ही है कि यह समष्टि मूलभूत (द्वितीयाक्षर पुरुषरूप) भगवान् सब जीवों का उपादान एवं अंशी है और चिद्रूप (चिच्चित्) है। उस समष्टि चिद्रूप भगवान् में ही इस सत्प्रधान जगत् का लय होता है। पूर्व में कह चुके हैं कि यह लय भी सर्वदा ऐक्य नहीं है किन्तु अविभागाद्वैत है। सर्वथा ऐक्य तो प्रत्यापत्ति (आश्रयभाव) में ही होता है। उस समय जीवों में सर्व विमुक्ति, निर्विशेषता रहती है इसलिये वे आश्रयरूप ही हो जाते हैं, ब्रह्म हो जाते हैं। किन्तु अमुक्त जीवों में सदंश और चिदंश दोनों रहते हैं। दैवरूप से संस्कार, वासना, अदृश किंवा सम्पद्रूप से उनमे अपना-अपना सदंश रहता है। उसी सदंश से फिर उन्हें कल्पान्तर में दूसरी सृष्टि होने पर उन-

उनके सदंश से धन, गृह, देहादि फल प्राप्त होते हैं। मुक्त जीव चित्प्रधान किंवा चिन्मात्र होते हैं और लयावस्था के अमुक्त जीव चित्सत्प्रधान किंवा चिन्मात्र होते हैं। अतएव यह जगत् (प्रत्येक पल चलने वाला) सन्मात्र कहा जाता है। इस सत्प्रधान जगत् का लय, श्रीपुरुषोत्तमावतार आद्यवतार पुरुषाक्षर की अनन्त मूर्तियों में की नियत किसी एक ही समष्टि चिदंशरूप स्वरूप में होता है और इसलिये सर्ग को भगवच्चरित्रता किंवा भगवदेकसाध्यता रहती है। यह समष्टि चिदंश सब जीवों का उपादान है और सर्वज्ञ है। अतएव लय हो जाने पर भी इसे यह मालूम रहता है कि किसी जीव का कौन-सा सदंश है इस विवेचन में वह विभु[1] है, सर्वसामर्थ्ययुक्त है। जिस समय जगत् का सर्ग होगा उस समय 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' न्याय के अनुसार जहाँ-का-तहाँ यथा योग्य पैदा होगा। थोड़ा भी विपर्यय या अनिच्छित अव्यवस्था नहीं हो सकती। लय हो जाने पर इस प्रकार व्यवस्थित उद्गमन होना यह जीवसामर्थ्य नहीं है, यह भगवान् की ही शक्ति है, इसीलिये सर्ग को भगवान् की प्रथम लीला कहा गया है। विभु का यह सामर्थ्य है कि लय होने पर भी अपने-आप में किसी का स्पर्श न हो और न एक दूसरे का विपर्यय हो।

यहाँ एक यह आशंका हो सकती है कि लय-अवस्थाओं में उनके सदंश इच्छादि धर्म भी जब विद्यमान रहते हैं तो फिर वे एक (निश्लेष्ट आदि) भाव से ही कैसे रह सकते हैं। इसके लिये कहते हैं कि

---

१ ननु जीवानां तदानीन्तनानां चिद्रूपत्वात् कथमेकस्मिन् लयः। तत्राह। स हि भगवान् सर्वेषां जीवानामात्मा समष्टिवन्मूलभूतश्चिद्रूप एव। तत्रैवास्य सत्प्रधानस्य लयः। अन्यथा काठिन्यमेव न स्यात्। अमुक्तजीवानां प्रजयाज्जीवाश्रितं जगत्तत्रैव लीनम्। तस्योद्गमनसामर्थ्यायाह- विभुः। स हि सर्वसमर्थः प्रथमतो जीवान् स्वस्मिन् सम्पाद्य तत्रैव जगल्लयं कारितवान्। अनेन तस्यास्पर्शो निरूपितः। (भाग० सुबोधिनी ३।५।२३)

'आत्मेच्छानुगतौ'[१]। जीवों के इच्छादि सब धर्मों की अनुगति भगवान् में ही होती है। लयावस्था में जीव भगवत्परतन्त्र ही विशेषकर रहता है अतएव भगवदिच्छा के साथ उनकी इच्छाकी भी अनुगति रहती है।

यदि उनकी इच्छा ही न रही तो फिर यह एक तरह की स्वरूपहानि ही कहिये यह शंका यदि कोई करे तो कहना पड़ेगा कि नहीं, उस समय भी भगवान् 'नानामत्युपलक्षण:' रहता है। अर्थात् सब जीवों की जो नाना बुद्धियाँ लय को प्राप्त हुई हैं। वे सब विद्यमान हैं किन्तु वे सब भगवान् की मति में मिलकर स्थित हैं। जैसे एक दूसरे से पृथक् जाति के लवण समूह में किसी ने जल के कुण्ड में डाल दिये तो वे थोड़ी देर में एक-से हो गये। अब यदि कोई आकर पूछे कि कहो जी, वे सैन्धव आदि सब लवण कहाँ गये तो वह कह देगा कि जो कुछ है वह यह जल ही है। इस तरह लयकाल में सर्वात्मा भगवान् की समष्टि मति में वे सब व्यष्टि मतियाँ एक होकर रहतीहैं। इस प्रकार से सारा जगत् भगवान में लीन रहता है।

यहाँ तक मध्यम अर्थात् भिन्नाभिन्न जगत् की पूर्वावस्था का निरूपण कहा, अब प्रथम जीवों का उद्‌गम कहते हैं-

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरलुप्तदृक्॥

---

१ ननु जीवानामिच्छादिधर्माणां विद्यमानत्वात्कथमेकभावेन स्थिति स्तत्राह- आत्मेच्छानुगतौ। आत्मनां या इच्छा सर्व एव धर्मास्तेषामपि तत्रैवानुगतिः। तदा भगवान् सृष्ट्यन्तरवदेकरसो न जातः। किन्तु नानामतिभिरेव उपलक्षितः। अथवा, सर्वैरेव मतिभिरेक एवोपलक्षितः। यथान्योन्यविजातीयानि सहस्रं लवणान्येकस्मिन् जले परिच्छिन्ने प्रक्षिप्तानि एकरसत्वमप्यापन्नानि नानामतिभिर्लक्षितमेकं भवति। तनैकदेशे एव भगवति विश्वस्य लयो भवति। 'एकांशेन स्थितो जगत्' (भा० सु० ३।५ । २३)

भगवान् ही किस प्रकार से जीव का स्वरूप धारण करता है यह हम पूर्वसृष्टि (ब्राह्म सृष्टि) के निरूपण में कह चुके। अब इस भागवत् दूसरी सृष्टि में तो केवल जीवों का बहिर्निर्गमन होता है। 'सः' वह भगवान् ही 'एषः' यह जीव हो गया[१]। सारा जगत् जिसके अन्तः विद्यमान था वह आद्यपुरुष ही अपने और अंश के भोग की इच्छा से आनन्दांश का तिरोधान करके एक रूप से (अंश से) जीव हो गया। जिसे हम देवदत्तादिरूप से पुकारते है, जीवरूप से प्रकट हो गया है। वही जीव थोड़े समय में पूर्वसृष्टि के अपने पूर्व संस्कार से द्रष्टा (ज्ञानवान्) हो गया[२]। 'मैं द्रष्टा(निरीक्षक) हूँ यह बात उसके स्मरण में उत्पन्न हुई। द्रष्टा बनने के लिये दृश्य की आवश्यकता रहती है। जब उसे मालूम हुआ कि मैं द्रष्टा हूँ तो अब उसे दृश्य के विचार की अपेक्षा हुई। पर उस समय उसे सिवा उसके अपने-आपके दृश्य पदार्थ ही न मिला।'

यह बात ठीक है कि वह यदि अपने-आपको भी देखकर और

---

१ स वा एष इति। स एव भगवान् स्वस्मिन् विद्यमानः सर्वः, एष देवदत्तादिरूपेण प्रतीयमानो जीवो जातः।

२ तदा जीवो भूत्वा तिरोभावप्रकारेण आविर्भूतः, पूर्वसंस्कारेण तदा द्रष्टा जातः। तदा द्रष्टृत्वनिर्वाहार्थं दृश्यालोचने क्रियमाणे दृश्यं नापश्यत्। यतः स एक एव सर्वजीवानामात्मभूतो निर्गत इत्येक एव राजते। यद्यप्यात्मानं द्रष्टुं शक्नोति, तथापि पूर्ववासनया बहिर्मुख एव निर्गत इति स्वातिरिक्तमेव दृश्यमालोचयन्, तदभावे आत्मानमेवासन्तं मेने। इवेत्यर्द्धासत्त्वम्। आत्मांशो वर्तते वेद्यांशो नास्तीति औपाधिकधर्माणामुपाध्यभावे धर्माभावः। ननु पूर्वे दृश्यस्य विद्यमानत्वात्, सदृश्यस्य तस्य लयात्, स्वाविर्भावे दृश्यमपि कुतो नाविर्भूतमिति चेत्-सुप्तशक्तिः। सुप्ताः शक्तयः यस्य। ये प्रपञ्चोद्बोधकास्ते नाद्याप्युपस्थिता इति। एवं तर्हि ज्ञानशक्तिरप्यनुद्गता स्यात्। तत्ततः कुतो मेने आत्मानमसन्तमिति तत्राह-अस्य ज्ञानशक्तिः पूर्वमपि न लुप्ता, आत्मवदेव स्थिता आत्माविर्भाव एव आविर्भूतेत्यर्थः, स यदात्मानं असन्तमिव मेने। (भाग० सुबोधिनी ३।५।२४)

उसका ही विचार करके अपने द्रष्टृत्व का निर्वाह करता तो कर सकता था किन्तु यह जीव पहली सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होने से बहिर्मुख ही उत्पन्न हुआ। परमात्मा ने उसके इन्द्रियों को बहिर्वेदनशक्तिमात्र बनाकर कमजोर कर दिया था, इसलिये वह आत्मद्रष्टा न हुआ और न अपने-आपका विचार ही कर सका। वह अकेला था और सब जीवों का समष्टिरूप था, अतएव सर्वजीवराट् था।

जब उसे दृष्य का दर्शन न हुआ तब वह आपको 'मैं कुछ वस्तु ही नहीं हूँ' इस प्रकार एक तरह से असत् (झूठा) मानने लगा। सत्य है, दृश्य के सर्वथा अभाव में द्ष्ट्रत्व की सिद्धि होनी कठिन है। मूल में 'इव' पद दिया है। इसलिये कहना पड़ता है कि सर्वथा असत् तो नहीं किन्तु असत्-जैसा मानने लगा। आत्मारूप ज्ञेय पदार्थ के रहते भी औपाधिक धर्मवाले पदार्थों (देहादि) के न होने से कुछ होकर भी न होने-जैसा मानता था।

यहाँ विचार हो सकता है कि लय के समय में एक ही स्थान सत् चित् दोनों का तिरोभाव हुआ था तो फिर आविर्भाव (उद्गम) के समय भी दोनों का उद्गम होना चाहिये था फिर चेतन तो पैदा हो गया और जड़ (सत्) का प्रादुर्भाव क्यों न हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि 'सुप्तशक्तिः'। भगवदिच्छा से प्रपञ्चोद्बोधक शक्तियाँ अभीतक सो रही थीं। इसलिये प्रपञ्च का भी उद्बोधन न हुआ। इस पर यह आशङ्का हो सकती है कि तो फिर उसे 'मैं कुछ नहीं हूँ' यह अज्ञान भी कैसे हुआ। अज्ञान भी तो एक तरह से ज्ञान ही है। जब सब उद्बोधक शक्तियाँ सो रही थीं तो अज्ञान भी कैसे पैदा हुआ। इसका इतना ही उत्तर है कि चिद्रूप होने से इसकी ज्ञानशक्ति का लोप न पूर्वसृष्टि में हुआ था और न अब हुआ। धर्म-धर्मी

दोनों साथ रहते हैं, आत्मा ज्ञानस्वरूप जब नित्य है तब उसका धर्मरूप ज्ञान भी नित्य उसके साथ रहेगा। प्रलय में केवल उसका तिरोभाव हो गया था किन्तु जब आत्मा का आविर्भाव हुआ तब उसके ज्ञान धर्म का आविर्भाव हो गया, केवल अमुक्त होने से अपूर्ण ज्ञान हुआ। आत्मा के रहते भी उसने अपने-आप को नहीं जैसा समझा।

दृश्य के अनुसार असत्त्व ज्ञान भी अनेक होते हैं, इसलिये दृश्यानुरोधी ये आत्मा के असत्त्व ज्ञान जब बहुत-से इकट्ठे हो गये तब ये ही सब एक होकर माया हुई यह कहते हैं-

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममेविभुः॥

कुछ-का-कुछ समझना ही अन्यथा ज्ञान किंवा विपर्यय कहा जाता है। आत्मा सत् है, उसे असत् समझना यह अन्यथा ज्ञान है, यही अस्मृतिः और माया प्रकट हुई। यह समष्टिरूपा माया मूलाक्षर की महाशक्ति मोहिनी है। यह जीव भी अक्षर का ही अंशांश है, इसलिये इसकी शक्ति भी उसी रूप में पैदा हुई। यह माया का आत्मा (स्वरूप) सदसत् है। स्वभावतः यह सत्य है पर इसने आत्मा को असत्य स्वीकार कराया है इसलिये आपाततः असत्य है, इसलिये माया सदसत् है और वह इस आत्मा की ही शक्ति है। आगे अपेक्षित कार्य में जो सामर्थ्य उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति भी धर्मी का ही धर्म है। 'मया (आत्मना) सह वर्तति सा

१ एतान्येवात्मासत्त्वज्ञानानि एकीभूतानि मायारूपेण जातानीत्याह-सा वेति। यदात्मानमन्यथा ज्ञातवान् एषैव माया। सा पूर्वोक्ता प्रसिद्धा मोहिकासदसदात्मिका। स्वभावतः सन् अन्यथाङ्गीकारादसन्, एतादृश एवात्मातस्याः। तस्या धर्मत्वमाह-एतस्य संद्रष्टुः शक्तिरिति। शक्तिरुत्तरकार्ये सामर्थ्यम्। मया सह वर्तत इति प्रत्ययस्य अलुक्, सुबन्तप्रतिरूपको वायं निपातः। ततोऽण्प्रत्ययः सवर्णप्रत्ययः सवर्णदीर्घो न ङीप्। यया मायया अनुद्धृतसारया इदं

माया।' आत्मा के साथ ही रहती हो वह माया। ज्ञानरूप आत्मा के साथ (अमुक्त अवस्था में) अज्ञान भी रहता है इसलिये वह माया कहा जाता है। इस चिच्छक्तिरूपा माया के द्वारा भगवान् ने इस जगत् को बनया। यह जगत् व्यावहारिक है। पूर्व सृष्टि के जगत् से यह जगत् भिन्न है। 'इदं हि विश्वं भगवाननिव इतर:' भिन्नाभिन्न है। सत्यासत्य है। आत्मांश सत्य है। मायांश (तद्रूप में) असत्य है, वास्तव में सत्य है, नियत व्यवहार असत्य है। सद्रूप घट सत्य है, उस पर जो केवल घट-व्यवहार हो रहा है वह असत्य है। 'व्यवहार: सन्निपात:'। यद्यपि यह जगत् भगवान् का ही बनाया है पर मुख्य में जीवभोग के लिये बनाया है इसलिये इसमें माया का अंश भी है। जिस अंशांश की भावरूपा मायाशक्ति है उसने यह जगत् नहीं बनाया किन्तु मूलाक्षर ने माया से बनाया। वह विभु है, सर्वसमर्थ है, जिस किसी के द्वारा भी सब कुछ कार्य कर सकता है।

'मैं असत् जैसा हूँ' इस ज्ञान में तीन पदार्थ हैं-आत्मा, असत् और ज्ञान। इसलिये आत्मांश से सत्त्वगुण पैदा हुआ, असदंश से तमोगुण पैदा हुआ और ज्ञानांश से रजोगुण पैदा हुआ। ये तीनों समानरूप से जब सम्मिलित होते हैं तब वह मायागुणमयी प्रथम कार्यरूपा प्रकृति कही गयी। यह जीव प्रकृति है, भगवत्प्रकृति

जगदेव निर्ममे। यस्य भावरूपा शक्तिस्तस्य कर्तृत्वं व्यावर्तयति विभुरिति। भगवत्कर्तृके एव जगति जीवार्थत्वात्, तन्माययैव जगत्कृतवान्। येन केनापि जगत्करणाद् विभुरिति।

(भाग० सुबोधिनी ३। ५। २५)

पूर्वस्माद् भिन्नं व्यावहारिकं जगत्कृतवान् इत्यर्थ:। पूर्वोक्तेष्वात्मादिषु भानविषयीभूतेषु भानविषयीभूतेषु, आत्मांश सत्त्वेन, असत्त्वांशस्तमस्त्वेन, ज्ञानांशो रजस्त्वेन परिणममाणो गुणसाम्यावस्थारूपं तत्स्वरूपं कृतवान्। तेन सा गुणमयी प्रथमकार्यरूपा जातेति बोध्यम्। तत एवं तस्या गुणक्षोभ इत्यर्थ:। (प्रकाशे) तत्रैव गो० श्रीपुरुषोत्तमचरणा:।

नहीं। इसके द्वारा फिर सारा जगत् पैदा हुआ, अतएव इसे प्राकृतिक जगत् कहते हैं। जितने दूर तक गुण का सम्बन्ध हो वह सब त्याज्य ब्रह्मवाद है। केवल ब्रह्म ही ग्राह्य है। यह बात भागवत के निर्वचन में समझायी गयी है। इस बात को हम आगे चलकर अच्छी तरह से समझावेंगे। अभी तो उस बात को समझने का उपस्कर तैयार करके पाठकों के सामने रखते हैं।

अस्तु, प्रकृतमनुसरामः- इस तरह हमने आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् का सप्रमाण निरूपण कर दिया। आधिदैविक उत्तम और आध्यात्मिक मध्यम जगत् है, अब एक तीसरा जगत् और है यह आधिभौतिक जगत् है और जो आपाततः हमारी दृष्टि के सामने है। यह उन दोनों जगतों के ऊपर आ रहा है। हमारी दृष्टि और उन दोनों विश्वों के मध्य में आ रहा है इसलिये कनिष्ठाधिकारियों की दृष्टि प्रथम इसी पर पड़ती है और इसीलिये इसमें आसक्त होकर जीवन अहन्ता-ममता-संसार में फँसकर अनादिकाल से न जाने कहाँ तक जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहेगा।

इसका भेद न करके दृष्टि आध्यात्मिक जगत् पर पहुँचती है और उसको भेदकर आधिदैविक जगत्पर पहुँचती है। पहली दृष्टि प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप है। सांसाररिक दृष्टिवाले अधिकारियों की दृष्टि आधिभौतिक जगत् पर होती है, अतएव त्रिगुणात्मक शास्त्रों के द्वारा कभी कहीं प्रवृत्ति होती है तो कभी कहीं निवृत्ति भी होती है पर यह निवृत्ति आत्यन्तिक नहीं है। सांसारिक जाग्रत की तरह है। इस अधिकार की निवृत्ति प्राथमिक ज्ञान और भक्ति के द्वारा निवृत्त होती है, उस समय जीव को यह समझ होती है कि मैं ही ब्रह्म हूँ और मेरे अज्ञान से ही यह

सारा जगत् झूठा ही मुझमें ही कल्पना किया गया है। मैं ही केवल ब्रह्म[1] हूँ, मुझमें ही यह जगत् पैदा हुआ है, पर वास्तविक नहीं केवल कल्पित है। यह बुद्धि कुछ शुद्ध है पर प्रथमा है। इस जगत् का भी तृतीय स्कन्ध में ही वर्णन है।

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः॥

भगवान[2], ब्रह्मरूप जगत्, और भगवान् ही जगत् का कर्ता है, यह तीनों बात श्रुतिसिद्ध हैं, सत्य हैं। सर्वधर्मविशिष्ट भगवान् सत्य है, श्रुतिसिद्ध है। जगत् ब्रह्म है, सत्य है और श्रुतिसिद्ध है और भगवान् कर्तृत्व भी श्रुतिसिद्ध और सत्य है। परन्तु मूल ब्रह्मरूप ही वह जगत् कनिष्ठाधिकारियों को असत्य दीखता है। चतुःश्लोकी में 'ऋतेऽर्थम्' श्लोक से जिसका निरूपण किया वह माया (जीवमाया) जीवों के ज्ञान के साथ ही लगी हुई है, वह माया ही ब्रह्मरूप जगत् किंवा ब्रह्म को ही विषयाकार आत्मा और जड पृथक्-पृथक् रूप से दिखाती है। सर्वाश्रय विषय ब्रह्म (ब्रह्मरूप

---

१ प्रथमाधिकारार्थमाह- यया मत्या अहमेव ब्रह्म, मय्येव सकलं जातम्, परं मायया कल्पितम्। अस्य जगतः प्रतीतिमात्रस्य, अहं ब्रह्म अधिकरणम्, मायाकरणमिति ज्ञातवानित्यर्थः।
(भाग० सुबोधिनी १।५।२७)

२ जगत, भगवान्, कर्तृत्वं च श्रुतिसिद्धं सत्यमेव। सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य तथात्वप्रतीतौ व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते। मायाकृतो योऽन्तरासर्गः स तु अपार्थमेवाभाति। वस्तु दूरीकृत्य निर्विषयकमेव ज्ञानं मायावृतं यत्किञ्चिद्विषयत्वेन भाति। एवमेव हि शुक्तिकायां रजतप्रतीतिरन्तरा भासते तलस्पर्शे च निवर्तते। युष्माकमिति वचनात्र सर्वेषामयमनुभवः। अत एव 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्'। इत्युभयथा प्रतीयमानं सत्यमेव वस्तुतो जातमिति बोधयति। मध्यस्थमात्रानुवादो वा मायावादादियत्। किं च, विश्वस्य यन्मूलं तद्बहिर्विषयेषु (बाह्यपदार्थेषु) नास्ति, भगवतो मायातीतत्वात्। किन्तु बुद्धेः सकाशादुद्गता मध्य एव स्फूरति। (भाग० सुबोधिनी ३।७।१५)

जगत्) के और हमारी दृष्टि के आगे यह माया का तैयार किया हुआ सर्ग दीखता है, वास्तव में यह झूठा है, कुछ है ही नहीं तथापि दीखता है, अन्यख्यातिमात्र है। ब्रह्म को छोड़कर मायामात्र की ख्याति (ज्ञान) हो रही है। ज्ञान और ज्ञेय वार्तामात्र है वस्तु कुछ नहीं है।

वस्तु ब्रह्म को दूर रखकर निर्विषयक ज्ञान ही माया से आवृत्त होकर किसी विषय को दृष्टि के आगे खड़ा कर देता है। वास्तव में यह जगत् निर्मूल है, असत्य है। मायामात्र से दीखता है, केवल मध्य में ही स्फुरित होता है और मूल ब्रह्मरूप विषय के स्पर्श होने पर यह नष्ट हो जाता है। शुक्तिरजत की तरह। शुक्ति की चाँदी भी सीप का यथार्थ ज्ञान न होने से मध्य में दीखने लगती है किन्तु तलस्पर्श (सीप का यथार्थ ज्ञान) होने पर वह भ्रम जाता रहता है। वहाँ भी माया (अन्य) की ख्यातिमात्र है, वस्तु कुछ नहीं। इसी का अनुवाद 'अन्यद् युष्माकमन्तरा भवति' इत्यादि श्रुतियों में किया है। यद्यपि यह जगत् झूठा है निर्मूल है, मायामात्र है तथापि ब्रह्म है। क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यादि श्रुतिवचनों में कहा है कि सत्य और अनृत (झूठा) दोनों सत्य ब्रह्म ही बन गया है, दोनों रूप ब्रह्म के ही हैं, सब कुछ ब्रह्म है 'सर्वं ब्रह्म'। इसलिये यहाँ भी ब्रह्मवाद है किन्तु गौण ब्रह्मवाद है। जो वस्तु जिस स्वभाव की होती है वह उसी स्वभाव की रहती है, हमारे शास्त्रार्थ करने से या न समझने से उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यह जगत् इसी प्रकार इसी स्वभाव का है। असत्य रहते भी सत्य है। किंवा सत्य होते भी असत्य है। यही भगवान् की माया किंवा सत्य होते भी असत्य है। यही भगवान् की माया किंवा सामर्थ्य है कि जो तुम्हारे बना लिये नियमों से सर्वथा विरुद्ध है।

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुद्ध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

(भा०)

इस प्रकार से हमने तीन प्रकार के जगत् का निरूपण किया है। यह तीनों प्रकार का जगत् ब्रह्म है। यही बात अति संक्षेप से श्रुति ने भी कह दी है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'इदं दृश्यमानं श्रुतं च सर्वं जगत् ब्रह्म' जो कुछ देखने और सुनने में आता है वह सब-का-सब ब्रह्म है, ब्रह्मरूप है। 'सर्वं ब्रह्म' इसके दो अर्थ होते हैं- सब कुछ ब्रह्म है, और सब-का-सब ब्रह्म है। पहला खण्ड ब्रह्मवाद और दूसरा अखण्ड ब्रह्मवाद है। मुख्य ब्रह्मवाद और गौण ब्रह्मवाद का भेद भी इसी तरह सूक्ष्म है। तीनों जगत् ब्रह्म है पर प्रकार में भेद है। सब श्रुतिशास्त्रों का समन्वय हो सके उसी प्रकार का विचार करना उचित है। वह यह है-

यथा सर्वाविरोधः स्यात्तथैवात्र विचारणम्।
सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते॥
अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः।
तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः॥
यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्।
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते॥
(कारिका भा० २।९।३२)

यावत्प्राप्य सब श्रुतियों की अविरोधेन सङ्गति लगाने के लिये ही ब्रह्मवादसिद्धान्त की उत्पत्ति हुई है। 'श्रुतयो यत्र शेरते' सब श्रुतियाँ अन्य-अन्य पदार्थों में भ्रमण करती हैं किन्तु कहीं भी उन्हें विश्राम नहीं मिलता, उनका वास्तव समन्वय नहीं होता किन्तु जब वे ब्रह्म में पहुँचती हैं तब वे

सोती हैं। अर्थात् उन्हें विश्राम मिलता है उनका वास्तविक समन्वय हो जाता है जो लोग जगत् को एक तरह का ही मानकर बैठ जाते हैं उनके मत में सब श्रुतियों का समन्वय होना असम्भव है। सर्वशास्त्रसमन्वय एक ब्रह्मवाद में ही होता है। जो लोग श्री मद्वल्लभाचार्यानुयायी बनकर भी अपने आपको श्रौत कहते रहते भी जगत् को सत्यमात्र मानकर कृतकृत्य हो जाते हैं हमारी समझ में वे भी उन्हीं मतवादियों की गणना में हैं। ब्रह्म सब का है सर्वत्र है सर्वानुयायी है, सब है, इत्यादि सिद्धान्त ही सत्य और श्रौत है और यही ब्रह्मवाद है। ब्रह्म में यदि सामर्थ्य है और सब तरह की सामर्थ्य है तो अवश्य वह सब कुछ है, जगत्रूप ब्रह्म सत्य भी है, झूठा भी है। उसे केवल सत्य ही मान बैठना पक्षपात है। निष्पक्ष ब्रह्मवादसिद्धान्त 'सर्वं ब्रह्म' है और यही मुख्य ब्रह्मवाद है। अन्य सब गौण ब्रह्मवाद हैं। प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल सब कुछ ब्रह्म है। जो कुछ लीला है वह सब प्रकार की है तो भी भगवान् की है, उसमें भली और बुरी क्या? जो इस तरह से उस में पक्षपात-दृष्टि रखते हैं वे ब्रह्मवाद-सिद्धान्त के सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥

(षोडशग्रन्थ)

सर्वरूप से सर्वत्र विद्यमान रहने वाले भगवान् के सब के सब गुणों का जो बुद्धिमान् भक्त लोग समानभाव से वर्णन करते हैं वे अमृतसमुद्र की तरह गम्भीर और शुद्ध भाववाले भक्त हैं। उनके वचनामृतका पान अति दुर्लभ है।

गुण, दोष, दूषण प्रभृतिजो कुछ पदार्थ हमें निकम्मे और नीचे में, नीचा, उच्च में उच्च दीखता हो वह भी ब्रह्म है। अतएव भगवान् ने आज्ञा की है कि 'द्यूतं छलयतामस्मि' कपट का खजाना द्यूत भी मेरी विभूति

है। सर्वसमर्थ को सबकुछ शोभित होता है। इसलिये किसी एक प्रकार का ही ब्रह्म को मान लेना ब्रह्मवाद के ज्ञान की कमी है। देवर्षि नारद जी ने वेद-व्यास को भागवत का उपदेश देते हुए कहा है-

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥

श्रीमद्भागवत में भगवल्लीलाओं (चरित्रों) का वर्णन है। द्वितीय स्कन्ध में तो भगवच्चिरित्रों का ही नाम भागवत कहा है। जहाँ कही भगवच्चरित्रों का ही नाम भागवत कहा है। जहाँ कहीं भगवच्चरित्रों का निरूपण और श्रवण करने का विधान किया है वहाँ यह भी विचार किया है कि भगवच्चरित्र[1] क्या वस्तु है। अनेक शास्त्रों से यह तो सिद्ध है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलयलीला भी भगवान् का ही चरित्र है। किन्तु भगवच्चरित्र रहते भी वह भगवान् से भिन्न है किंवा भगवान् का ही स्वरूप है, यह विचार भी होना आवश्यक है। यदि जगत् भी भगवान् का स्वरूप नहीं है, यदि उसमें और भगवान् में सर्वथा भेद है और जगत्-सृष्टि, स्थिति, प्रलय भी भगवान् से सर्वथा पृथक् है तो फिर अनात्म और हेय होने से उसकी चर्चा सुनने से तथा उसकी भावना भी करने से संसार की ही प्राप्ति होगी, मोक्ष नहीं। किन्तु सो नहीं है, सर्वं ब्रह्म, तथा भगवान्

से यह भगवद्रूप जगत् (भगवान्) किस प्रकार प्रकट होता है, भगवान् जगत् का पालन कैसे करते हैं और फिर किस तरह उस स्वनिर्मित का ही

---

१ भगवतः स्वरूपं चरित्रं च निरूपणीयम्, तद्द्वयं भेदेन न निरूपणीयम्। तथा सति चरित्रस्यानात्मत्वेन तद्भावनायां संसारः स्यात्। अतो द्वयमभेदेन निरूपयति-इदं हि। विश्वमनूद्य भगवत्त्वं विधीयते। तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिश्चेत्कृतार्थो भवतीति कार्यं (लोकबुद्धया) भगवत्त्वेन निरूपितम्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधात्र निरूपणं कर्तव्यम्। तत्रोत्तमे निरूपितम्। मध्यमे त्वेवम्-'इदं विश्वं भगवानिव (इतरः)न तु भगवान्।

संहार करते हैं यह चरित्र श्रवण करने से मोक्ष मिलता है संसार की निवृत्ति होती है यह सब शास्त्र डंङ्के की चोट कह रहे हैं अब यदि जगत् भगवान् न होता यदि वह अनात्मपदार्थ होता तो यह कैसे हो सकता था।

यदि कहो के जगत् के सुनने से मोक्ष नहीं होता किन्तु जगत् के बनाने वाले का चरित्र श्रवण करने से मोक्ष मिलता है तो भी ठीक नहीं, 'जगत् के बनाने वाले का चरित्र' इस वाक्य में जगत् और ईश्वर दोनों का ही श्रवण और मनन करना पड़ेगा ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कार्य को छोड़ दें और कर्ता का ही श्रवण, ध्यानादि कर सकें। ऐसी हालत में उस श्रवण और भावना का फल कुछ संसार और कुछ मोक्षफल हो सकताहै न कि शुद्ध मोक्ष। इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान् और भगवान् का चरित्र दोनों एक हैं अतएव भगवच्चरित्र के श्रवण करने से मोक्ष होता है और यही बात 'इदं हि विश्वं भगवान्' इस श्लोक में कही है।

इस दुनिया में तीन प्रकार के अधिकारी हैं-सात्त्विक, राजस, तामस अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनों अधिकारियों की दृष्टि से इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में तन्त्र से तीन तरह के वाक्य माने गये हैं, 'इदं हि विश्वं भगवान्' इदं हि विश्वं इतरः भगवानिव, इदं हि विश्वं भगवान् इतरः और उसमें तीन कारण दिये हैं-

---

१ तेनात्र सन्माननादिकं कर्तव्य नासक्तिः। निकृष्टे तु इदं विश्वम्, भगवानितरः अस्मादन्यः। अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवति। नन्वेकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्यम्? तत्राह-यतो जगत्स्थान०। तत्र जगतः स्थितिर्भगवत्येवेति भगवानेव जगतीति स्वाधारत्वाद्भगवतः भगवानेव जगत्। मध्यमे तु भगवतः सकाशाज्जगदुद्भवःतेन कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेद इति 'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमिति वचनाद् जगद् भगवानिव। मूढे तु भगवतः प्रलयकर्तृत्वान्नाशप्रतियोगि जगत्। भगवांश्च सदातन इति इतरः।

(भाग० सुबोधिनी १।५।२०)

'यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा:' (सार्वविभक्तिकस्तसि:) यत: (यत्र) जगत: स्थितिरस्ति, यतो यस्माद् जगत: संहारो भवति, येन जगत: सर्गो भवति।

अर्थात् उत्तमाधिकारी की दृष्टि में यह सारा जगत् सर्वदा (सुवर्ण में कड़े की तरह) भगवान् में ही स्थित है, इसलिये यह जगत् साक्षात् भगवान् है। जगत् और भगवान् में अणु मात्र का भी भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। कनिष्ठाधिकारी यह समझता है कि भगवान् से जगत् बिल्कुल पृथक् है। जगत् नाशवान् है और भगवान तो नित्य है, नित्यानित्यका ऐक्य कैसा? और मध्यमाधिकारी यह जानता है कि जगत् भगवान् से पैदा होता है, जैसे मिट्टी से घड़ा पैदा होता है। कुछ भेद भी और कुछ अभेद भी है। दोनों में भेदसहिष्णु अभेदसम्बन्ध (तादात्म्य)है। जगत् ब्रह्मरूप है, ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म का कार्य है इत्यादि कहने वाले मध्यमाधिकारी हैं।

कनिष्ठाधिकारी की समझ और ही है, वह जानता है कि जब भगवान् जगत् का संहार करने वाला है तब उसका और इसका ऐक्य कैसे हो सकता है। भगवान् नित्य है, जगत् नाशवान् है, इसलिये भगवान् अलग, जगत् अलग। कनिष्ठाधिकारी बहिर्मुख है। मध्यमाधिकारी खिचड़ी है और उत्तमाधिकारी अन्तर्मुख है। जहाँ कुछ भी भेददृष्टि है वहाँ बहिर्मुखता सम्भव है, जहाँ बिल्कुल भेददृष्टि नहीं है वहाँ बहिर्मुखता है, जहाँ भेददृष्टि बिल्कुल नहीं है वहाँ बहिर्मुखता का सम्भव ही नहीं है। जहाँ कार्यकारणभेदरहित भान होता है वे उत्तमाधिकारी हैं, उनका वाद (विचार) मुख्य ब्रह्मवाद है। जिन्हें कार्यकारणभेदसहित अभेद मालूम देता है वे मध्यमाधिकारी हैं उनका विचार गौण ब्रह्मवाद है और जिन्हें जगत् और

भगवान् में बिल्कुल भेद दिखायी देते हैं वे बहिर्मुख कनिष्ठाधिकारी हैं उनका वाद ब्रह्मवाद ही नहीं है।

अब यहाँ एक महती आपत्ति आती है कि जब सारा जगत् निरा ब्रह्ममें और जगत् में कुछ भी भेद नहीं तो फिर स्त्रीपुत्रादि की सेवापूजा करने सक भी मोक्ष होना चाहिये, स्त्रीपुत्रादि में आसक्ति करने से मोक्ष मिलना चाहिये, स्त्रीपुत्रगृहादि में आसक्ति करने से मोक्ष मिलना चाहिये, संसार नहीं। यह बुरा और यह भला ये भेद क्यो? धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक आदि सब व्यवहार ही व्यर्थ हो जायेंगे। शास्त्र, कर्तव्य, साधन, फल आदि सब पदार्थों का विप्लव हो जायेगा, बड़ा अनर्थ हो जायेगा।

इसकी यथावत् व्यवस्था करने के लिये भगवान् ने चतुःश्लोकी में ब्रह्माजी के आगे आज्ञा की है। 'ऋतेऽर्थेयत्प्रतीयेत' इत्यादि।

व्यवहार का विप्लव करना या उसको यथावस्थित चलाना यह किसी के वश की बात नहीं है। यह भी भगवान् ने अपने ही हाथ में रक्खा है। तुम्हारी ताकत नहीं, कि तुम उसकी इच्छा के या क्रिया के विरुद्ध कुछ भी इधर-उधर कर सको। जिस समय भगवान् ने अपनी क्रीडा का प्रारम्भ किया उसके पहले ही उस जगत् को यथावस्थित चलाने वाले अधिकारीगण भी पैदा कर दिये। उन अधिकारियों में एक माया भी है।

सत्, चित् और आनन्द ही तो फैल-पसरकर जगत् हो गये हैं, यह तीन पदार्थ ही तो सारा जगत् है। इन तीनों की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ भी इनके साथ ही सर्वदा रहती हैं, आनन्द की सर्वभवनसामर्थ्य शक्ति है, चित् की मोहिका मायाशक्ति है; और सत् की क्रियाशक्ति है, यह हम पहले कह चुके हैं। आनन्द ने सर्वभवनसामर्थ्यरूपा अपनी शक्ति से

विविध वैचित्र्यसहित अनन्त रूपधारण किये। सत् की क्रियाशक्ति प्रत्येक समय उसमें परिवर्तन करती रहती है और चित् ने अपनी मोहिका शक्ति के द्वारा सबको मोह कराया। विचित्र में अल्पज्ञों को मोह कराना चिच्छक्ति का ही कार्य है। इस भगवत्क्रीडा में मोह की भी आवश्यकता है। मोह भी एक प्रकार की भगवद्लीला है। एक तरफ प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपा सृष्टि तैयार है, और दूसरी तरफ उसमें प्रवृत्त होने वाले जीवन भी तैयार हैं। किन्तु मान लो यदि उनके हृदय में मोह (भूल) पैदा न हो तो वह सब सृष्टि व्यर्थ हो जाती है। मोह से ही प्रवृत्ति और मोह से ही निवृत्ति होती है। या यों कहिये कि मोह से ही जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है।

दोष में सङ्कोच होता है और गुण में प्रवृत्ति होती है, यह दोनों कार्य मोहिनी माया के कार्य के कार्य हैं। 'गुणदोषदृशिदोषो गुणस्तूभयवर्जितः' (श्रीमद्भा० स्क० ११) पदार्थ में अच्छा और बुरा देखना यही दोष है, क्योंकि पदार्थ तो न अच्छा है और न बुरा है, वह तो ब्रह्म है। प्रत्येक चित् के साथ उसकी शक्ति मोहिका माया रहती है। इसलिये उसे मोह होना दोष सहज है।

किन्तु इतना होने पर भी कार्य न चला, क्योंकि मोह का नैयत्य नहीं। यदि मोह का नैयत्य (यथायोग्य क्रम) न हो तो फिर व्यवहार चलना यथावस्थित नहीं हो सकता। अनैयत्य में यह दोष है कि प्रवृत्ति होने लगे तो फिर प्रवृत्ति-ही-प्रवृत्ति चले, और जो निवृत्ति हुई तो निवृत्ति-ही-निवृत्ति होती रहे। उसे रोकनेवाला कौन, या उसकी व्यवस्था कौन करे। बच्चा जिस वस्तु को लेना चाहे तो फिर चाहे ब्रह्मा भी निषेध करें, चाहे मृत्यु भी आ जाय कभी पीछे न हटे और जब किसी चीज को न

लेना चाहे तो फिर उसकी निवृत्तिका हठ भी सुदृढ़ ही रहता है। पागल को कब निवृत्ति होगी और कब प्रवृत्ति होगी, और कहाँ-कहाँ होगी, यह कौन कह सकता है। बालक और पागल की प्रवृत्ति और निवृत्ति का नैयत्य (नियन्त्रण) नहीं हैं। उनके किसी भी नियम की अव्यवस्था है।

किन्तु जगत् के व्यवहारों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का नैयत्य है। कहाँ और कब निवृत्ति होनी चाहिये और कहाँ कब प्रवृत्ति होनी चाहिये यह यहाँ व्यवस्थित है। गुण[१] में प्रवृत्ति होती है और दोष में निवृत्ति। यह कार्य केवल माया के मोह से ही नहीं हो सकता था इसलिये भगवान् ने प्रमाण की सृष्टि की। प्रमाण की सृष्टि यदि न होती तो प्रमेय, साधन और फल सब-के-सब धरे ही रहते। किंवा उनका बड़ा भारी दुरुपयोग होता रहता। यदि आँख न होती या प्रत्यक्ष का कोई साधन न होता तो न जाने ट्रेन (रेल) कितनी बार आपस में टक्कर खा-खाकर चूर-चूर होती रहती। किन्तु घबरायें नहीं यह तो सम्भावना मात्र है। सृष्टिकर्ता इतनी भूल नहीं कर सकता। उसने इन बातों की सब व्यवस्था पहले भी कर दी है।

आँख, कान, नाक, त्वचा और शब्द ये प्रमाण हैं जो पदार्थ किसी समझने के पदार्थ की समझ होने में प्रधान साधन हो वह प्रमाण कहा जाता है। पूर्वोक्त पञ्चेन्द्रिय और शब्द, हमको किसी प्रमेय का ज्ञान होने में प्रधान साधन हैं, इन्हें प्रमाण कहना उचित ही है। प्रमाण के द्वारा हमारी प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था होती है, गुण में प्रवृत्ति और दोष में निवृत्ति।

---

१ एवं तज्जलानिति हेतुं विविच्य सर्वमात्मैवेति प्रमेयं विनिश्चित्य प्रमाणवैयर्थ्यमाशङ्क्यं प्रवृत्तिसङ्कोचपरत्वाद् गुणदोषविषयत्वात् साप्येका भगवल्लीलेति मायां निरूपयति।

जिसको हम समझना चाहें उसे प्रमेय कहते हैं। सारा जगत् प्रमेय है। किन्तु प्रवृत्ति-निवृत्ति के योग्य कुछ थोड़ा ही भाग है, क्योंकि सारा जगत् अनन्त है और अगम्य है। हम यह तो पहले ही सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि सब-का-सब जगत् केवल ब्रह्म है, न वह बुरा है और न भला है, न गुण है न दोष। ऐसी अवस्था में यदि जगत् अपने उसी ब्रह्मरूप में सबका विषय होता तो फिर उसके व्यवहार में किसकी प्रवृत्ति और किसकी निवृत्ति होती। व्यवहार ही बन्ध हो जाता भगवल्लीला ही रुक जाती। सो न हो, क्रीड़ा चलती ही रहे, प्रवृत्ति-निवृत्ति जारी रहें इसलिये भगवान् ने माया (अविद्या) शक्ति का निर्माण किया। बनाकर इसका जीव के साथ विवाह भी कर दिया है और कह दिया है कि 'धर्मे अर्थे कामे च त्वयेयं नातिचरितव्या।' जब तक तुम रहोगे तब तक यह तुम्हारे साथ ही रहेगी या जब तक यह रहेगी वहाँ तक तुम्हारे साथ ही रहेगी। दोनों में (जीवपना या अविद्या) एक न रहेगा तभी तुम दोनों का साथ छूटेगा अन्यथा नहीं-

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः।
रमेत गतसन्देहस्त्यक्त्वादास्ते तदोभयम्॥

(श्रीमद्भा०२।९।३)

अर्थात् जहाँ तक जीव, जीव रहेगा, इसको देहाध्यासादि रहेंगे और आत्मविस्मृति रहेगी वहाँ तक इसके साथ माया भी रहेगी।

सारा जगत् शुद्ध ब्रह्मरूप वस्तु है, शुद्ध विषय है, पर मायामोहित बुद्धि जीव को कुछ और ही भास रहा है। यह माया, जीव को मोहित करके तत्सम्बन्धि बुद्धि प्रभृति अन्तःकरण को भी मोहित कर देती है। मोहप्राप्ताबुद्धि ब्रह्मरूप पदार्थों को कुछ-का-कुछ समझती है, अपने

मतलब समझती है। यह मोहिका माया दो तरह से भ्रम पैदा करती है। असल[1] वस्तुभूत पदार्थ को न दिखाना और उस जगह पर किसी दूसरे काल के काल्पनिक पदार्थ को दिखाना। अर्थात् एक ही माया के दो प्रकार हैं और उन दोनों के भान के भी दो प्रकार हैं। पहली माया के प्रतिभास कराने का प्रकार यह है कि वास्तविक (सत्य) पदार्थ को समझ में न आने देना और दूसरी माया का प्रतिभास कार्य यह है कि सत्य पदार्थ की जगह देशकाल का फेरफार करके कुछ और ही (काल्पनिक) पदार्थ लाकर दिखा देना। इनका दृष्टान्त तम (अन्धकार) और आभास (द्विचन्द्रादि) है। अन्धकार में पदार्थों के रहते भी लोग उन्हें देख नहीं पाते अन्धकार-ही-अन्धकार दीखता रहता है। इसका रहस्य यह है कि पदार्थ के और नेत्रों के मध्य में अन्धकार आ जाता है इसलिये पदार्थ तो नहीं दीखते और अन्धकार ही दीखता है। विद्यमान को प्रकाशित न होने देना यह अन्धकार का काम है, और आभास का यह काम है कि जो जहाँ न हो उसे वहाँ दिखाना। कभी-कभी हमें एक चन्द्र के दो चन्द्र दीखने लगते हैं। ऐसे समय दो चन्द्र नहीं हैं एक ही चन्द्र है तथापि दीखता है। जो नहीं है उसे दिखाना माया (भूल) का कार्य है। जल में चन्द्र-सूर्य का प्रतिबिम्ब का दीखना, यह जलस्थ चन्द्र नहीं है तथापि भासता है। यह आभास असत्य है तथापि दीखता है। इत्यादि दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि माया भी दो प्रकार की है आच्छादिका और व्यामोहिका। व्यामोहन कार्य दोनों का है तथापि विशेष कार्यों को लेकर ये नाम हैं। इसे विषयता भी कहते हैं। विषय का धर्म विषयता होता है किन्तु यह विषयता वैसी नहीं है। यह विषयता कुछ नहीं है तथापि दीखती है।

---

१ माया च द्विधा भ्रमं जनयति, विद्यमानं न प्रकाश्यति। अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन॥........... तत्र दृष्टान्तमाहयथाभासो यथातम इति। इत्यादि।

(भाग० सुबोधिनी २। ९। ३३)

जिस समय हम दो–चार बार चक्कर लगाकर किसी वृक्ष या मकान को देखते है तो मकान या वह वृक्ष घूमता दिखायी देता है। कहिये यह घूमना कहाँ है ? आँख में या मकान में ? यदि विचार करेंगे तो यह घूमना दोनों जगह नहीं मिलेगा। यदि आँख और मकान यह घूमना होता तो अवश्य देखने वाले दूसरे मनुष्यों को भी उस समय वह वहाँ दीखता। दीखता नहीं इसलिये दोनों जगह नहीं है। मकान या वृक्ष विषय हैं, वे स्थिर हैं। उनकी स्थिरता (धर्म) विषयता है, पर वह तो दीखती नहीं किन्तु उसकी जगह न जाने कहाँ की एक घूमनारूप विषयता आकर उस मकानरूप विषयपर दीखने लगती है। यह माया का कार्य है। कुछ–का–कुछ दिखाना इसे ही कहते हैं।

कितने ही कहते हैं कि जो दीखता है वह उस पदार्थ (विषय) का ही धर्म है ऐसा क्यों नहीं मानते। वह पदार्थ ही वैसा है यह मानने में क्या हानि है ? ठीक है यदि विचार में आ जाय तो मान सकते हैं। किसी विषय का विचार करने में प्रमाण की बड़ी आवश्यकता है। सब प्रमाणों में दो प्रमाण बलवत्तर हैं–शब्द और मनःप्रतीति। आँख वगैरह प्रमाणों में भी प्रतीति मौजूद हैं, तथापि वे सब प्रतीतियाँ मनःप्रतीति में ही सम्मिलित होती हैं, उन सबका मनःप्रतीति ही आधार है। ये दोनों प्रमाण दो तरह के हैं–भ्रान्त और अभ्रान्त। भ्रान्त शब्द और भ्रान्तप्रतीति को कोई भी बुद्धिमान् प्रमाण नहीं मानते, किन्तु सब लोग अभ्रान्त शब्द और अभ्रान्त मनःप्रतीति को ही प्रमाण मानते हैं।

वेदरूप शब्द अभ्रान्त प्रमाण है यह सब आस्तिक स्वीकार करते हैं। वह वेद 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'पुरुष एवेदꣳसर्वम्' इत्यादि वाक्यों के द्वारा सारे जगत् को ब्रह्म कहता है और ब्रह्मवेत्ताओं की अभ्रान्त प्रतीति

भी यही कहती है कि 'सारा जगत् ब्रह्म है।' ऐसी अवस्था में हमें मानना पड़ेगा कि नित्य चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्म में जो यह अनित्यता, जड़ता, दुःखरूपता और अस्थिरता दीख रही है, अवश्य यह इसका धर्म या इसकी विषयता नहीं है, किन्तु किसी और का ही धर्म होकर कहीं-का-कहीं, अन्य में अन्य का आभास हो रहा है। बस यही व्यामोहिका माया है। यह चेतन ही शक्ति है और चित् को ही मोहित करती है।

निद्रा या मूर्च्छा हमारी ही शक्ति है किन्तु कभी-कभी हमें ही असावधान कर देती है। वास्तव में दुःसङ्ग ऐसा ही होता है।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि विषय के बिना विषयता (उसका धर्म) कभी नहीं रह सकती तो फिर यह विषयता किसकी है, इस विषयता का विषय कौन है? इसका उत्तर यह है कि विषय ब्रह्म है, वह अपनी क्रीडा चलाने के लिये अनन्त रूपों से ही चिच्छक्तिरूप व्यामोहिका माया भी उस सर्वाश्रय ब्रह्म का ही रूपान्तर है, उसका ही यह विषयता (धर्म) है। यह धर्मरूपा भी धर्मी है। सती होकर भी असती है। कुछ नहीं है तथापि प्रतीत होती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है। जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही मान लेना उचित है। विषयतारूप माया आप ही धर्म है और आप ही उसका आधार है। यह असत्यरूप से ही सत्य है, क्योंकि ब्रह्म का ही रूपान्तर है। जैसे तम और आभास (प्रतिबिम्बादि)। अन्धकार दीखने मात्र है पर है सही। जहाँ तेज का अभाव होगा वहां ही वह दीखेगा। उसका आधार कुछ नहीं है, वही उसका आधार और वही उसका आधेय (धर्म)। यह पदार्थ ही ऐसा है। तम और प्रतिबिम्बादि भी भगवान् ने ही धारण किये हैं। यही प्रकार आच्छादिका प्रभृति माया का है। यदि प्रतिबिम्ब को हटाना चाहते हो तो उपाधि (काँच) को हटा दो। यदि तम को दूर करना चाहते हो तो प्रकाश को प्रकट करो। यदि माया को

दूर करना चाहते हो तो ब्रह्म प्रकाश को हृदय में आने दो, उसका उपाय करो। ब्रह्मप्रकाश आते ही माया दूर हो जायगी।

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन्कालमाययोः।
रमेत गतसन्देहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्॥

आच्छादिका प्रभृति माया से, अपने आपसे, और काल आदि पदार्थों से श्रेष्ठ परात्पर परब्रह्म भगवान् में जब यह जीव क्रीडा करने लगता है तब माया और देहाध्यासादि दोषों का परित्याग करके प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से अलग हो जाता है।

बड़े आश्चर्य और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि चेतन की ही मोहिका मायाशक्ति है तब वह दूर कैसे हो सकती है, अग्नि की दाहशक्ति जब तक अग्नि है तबतक दूर कैसे हो सकती है, ठीक है, नहीं हो सकती। किन्तु अड़चन तो तब होती जब अग्नि में केवल दाहशक्ति मात्र है और यदि उसमें शीतशक्ति और उष्णशक्ति दोनों होतीं और वे दोनों उसकी इच्छा पर निर्भर होतीं, और फिर उस पर भी अग्नि समझदार होती तो कोई अड़चन न रहती। जब चाहता शीत हो जाती और जब चाहता उष्ण हो जाती। इसी तरह इस चेतन में एक तरह की ही शक्ति नहीं हैं यह परब्रह्म का अंशांश है तो उतनी ही मात्रा में इसके पास अनेक शक्तियाँ मौजूद हैं। इसी में ज्ञान भी है अज्ञान भी हैं जब समझना चाहता है समझ जाता है, नहीं समझना चाहता तब नहीं भी समझता। समझना-भूलना दोनों विरुद्ध शक्तियों का आधार एक ही चेतन है और अपनी मात्रा में काफी समझदार भी है।

मायारूप आवरण, अन्तरा सृष्टि,किंवा परदा मध्य में आ जाता है तब यह अपने और जगत् के स्वरूप को न समझकर कुछ-का-कुछ देखता है। इसके आँखों के आगे मायिक जगत् रहता है, उसमें मस्त रहता है, जन्म-

मरण, सुख-दुःख के चक्कर में फँसा रहता हैँ और जब वह मोहिका माया का आवरण हट जाता है तब यह जीव ही शुद्ध प्रकाशरूप रहकर अपने और जगत् के असल स्वरूप को समझ लेता है। यह हम कह चुके है कि मायारूप आवरण को हटानेवाला प्रकाश, ब्रह्मज्ञान किंवा आत्मज्ञान ही है। वह दोनों तरह का ज्ञान वेदशास्त्रों से होता है। यद्यपि सब तरह के प्रमाण (इन्द्रियादि भी) भगवान् और उनके स्वरूप का प्रकाश कराने वाले हैं, परन्तु संसारावस्था में भगवान् ने जीवों के इन्द्रियादि प्रमाणों को केवल बाह्य शक्ति रखकर और आन्तर शक्तिको काटकर कमजोर बना रक्खा है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

इसलिये एक वेद ही जगत् के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराने में समर्थ प्रमाण है। वेदज्ञान और वेदोक्त साधनों के द्वारा जब यह मायारूप आवरण हट जाता है तब वही बुद्धि मति हो जाती है। प्रवृत्ति की निवृत्ति होकर धीरे-धीरे निवृत्ति भी समाप्त हो जाती है तब यह जीव अपने महिमा अक्षर ब्रह्म की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मरूप हो जाता हैँ

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥

(श्रीभा०)

प्रमेय को समझानेवाले प्रमाण दो प्रकार के हैं- लौकिक और अलौकिक। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण प्रमेय के यथार्थ स्वरूप को समझाने या दिखाने को असमर्थ हैं, क्योंकि बाह्य हैं, और ब्रह्मस्वरूप आन्तर है। सारा जगत् (प्रमेय)

वास्तव में ब्रह्म है। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण तो केवल जगत् के बाह्य स्वरूप को ही समझाकर उसमें ही प्रवृत्ति-निवृत्ति का विधान करते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। जो पुरुष को चाहिये उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इन चार पुरुषार्थों के साधन भी चार हैं और इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। लोक में 'धर्म करता है' यह भी प्रसिद्ध है और 'यह करने से तुम्हें धर्म होगा' यह भी प्रसिद्ध है इसलिये साध्य और साधन दानों एक ही नाम से प्रसिद्ध हैं यह सिद्ध है। यह बात चारों पुरुषार्थों में समझ रखनी उचित है। इनमें दो पुरुषार्थ प्रवृत्तिरूप हैं और दो निवृत्तिरूप। लौकिक काम और अर्थ, प्रवृत्ति रूप हैं, और धर्म तथा मोक्ष निवृत्तिरूप हैं। अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थ, जगत् में प्रवृत्ति कराते हैं किन्तु यदि इन दोनों के साथ धर्म का सहयोग न रहे तो प्रवृत्ति ही अव्यवस्थित होकर एक दिन नष्ट हो जाय, इसलिये अर्थ-काम की ही रक्षा के लिये उनके साथ धर्म की बड़ी अपेक्षा है। वह प्रवृत्तिमय निवृत्ति कराता है।

अर्थ-काम में प्रवृत्ति कराने वाले इन्द्रियादि प्रमाण जगद्वर्ति वस्तुओं के यथार्थ और आन्तर स्वरूप को नहीं जानते, वे तो केवल बाह्य अतएव त्याज्य (विषयता रूप) पदार्थ को ही जगत् समझते हैं अतएव केवल प्रवृत्ति कराते हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी आवे। किन्तु वेद और महर्षियों ने धर्म और मोक्ष के साधन ऐसे इस तरह नियत किये हैं कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप न समझने पर भी वे निवृत्ति ही कराते हैं। धर्मरूप साधन दो प्रकार का है- लौकिक (दृष्टफल) और अलौकिक (अदृष्ट आत्मसुखादि फल)।

दृष्टफलादि लौकिक धर्म तो आत्मा को अपने तरफ न लाकर देह के तरफ ले जाता है। पर अदृष्टफलादि अलौकिक धर्म चित्तशुद्धि कराकर कुछ

आत्मा के तरफ ले जाता है। इसलिये धर्म के साधन, प्रवृत्ति कराते हुए भी निवृत्ति कराते हैं, 'कर्ममोक्षाय कर्माणि०।' बालक को पढ़ाते समय जो शिक्षा द्वारा तकलीफ होती है उसका परिणाम सुख है। सुख के लिये दुःख दिया जाता है इसी तरह धर्म की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिये है। वर्णाश्रमादि धर्म, मनुष्य की प्रवृत्ति का सङ्कोच कराते हैं 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इतने से धर्म के नियम में प्रवृत्तिमय निवृत्ति भरी हुई है। इस तरह क्रमशः उन नियमों से ही अन्ततः चित्त की निर्मलता होकर आत्मा अपने अपनपेके तरफ झुकता जाता है और फिर मोक्षशास्त्रोक्त साधन मनुष्य को एकदम निवृत्त बनाकर आत्मा में लीन करा देते हैं। उस समय उसे विषयता का भ्रम नहीं रहता। आत्मा के साथ-साथ सारे जगत् का मूलस्वरूप समझ में आ जाता है। इन[१] साधनों की परम्परा और क्रम अन्यत्र दिये गये हैं वहाँ से विस्तारपूर्वक देख लेना चाहिये। मैंने भी नीचे टिप्पणी में कुछ संक्षेप से संग्रह कर दिया है।

जिसे हम जड़ जगत् समझते हैं वह सद्रूप ब्रह्म है। जिसे हम अल्पज्ञ चेतन समझ रहे हैं वह चिद्ब्रह्म है। 'जड जगत्' इत्यादि समझ

---

१ तदर्थे प्रथमं धर्मः। ततोऽन्तःकरणशुद्धौ वेदादिसत्प्रमाणे श्रद्धा। ततस्तदर्थस्य मननम्। ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कार इव ज्ञानम्। ततो विषयेषु वैराग्यम्। ततः श्रवणादिसाधनभक्तिः। ततः परमभक्तिः। ततः सर्वत्र भवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपीत्यर्थः।

(भाग०सुबो०)

आत्मस्वरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च नोपदेशसापेक्षम्। प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वात्। परं प्रमाणवस्तुनोरावरणं दूरीकर्तव्यम्। तत्र प्रमाणावरणं दूरीकृतमिव। रजस्तमसोरपगमेन सत्त्वप्राकट्यात्। जीवात्मावरणं माया।

(भाग० सुबो० १। १५। २९)

शुद्धे ह्यन्तःकरणे प्रमाणेनोत्पादितं ज्ञानं आत्मावरणं दूरीकरोति।

(३०)

ज्ञाने ब्रह्मसम्पत्तिर्जाता। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति।' द्वैते सर्वत्रानात्मनः प्रवेशात्सर्वत्रास्यात्मनः स्वरूपनाशसंशयाः स्थिताः, सखण्डभावात्। (३१)

विषयता है, भ्रम है, माया है और उसे ही सद्ब्रह्म समझना (देख लेना) वास्तव विषय है। माया अनेक है, ब्रह्म एक है। जब बुद्धि है तब जिज्ञास्य (विषय) अनेक अनन्त हैं और जब वही बुद्धि, ज्ञान का करणरूपा मति हो जाती है तब[१] जिज्ञास्य एक ही रहा जाता है, ब्रह्म किंवा सत्। बुद्धि माया विषयता जगत्-अनेकता, त्याज्य ब्रह्म है और सत्-चित् आनन्द ग्राह्य हैं। यही आश्रय हैं, यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

इस तरह सर्वत्र यह तीन प्रकार के जगत् व्याप्त हैं। हमारी दृष्टि से तीनों मिले हुए एक हैं। वेदद्रष्टा और सच्छास्त्रों की दृष्टि में मिले हुए भी हैं और पृथक्-पृथक् भी हैं। अतएव वे लोग हमें इनका पार्थक्य करके अनासक्तिबोधन और सत्कारबोधन करा सके। यदि यह केवल सत्य ही होता तो अनासक्ति का उपदेश व्यर्थ हो जाता और यदि सर्वथा असत्य ही होता तो फिर सत्कारोपदेश व्यर्थ हो जाता। उनको सब पदार्थ यथार्थ स्वरूप में दीखते हैं अतएव वे ही सत्योपदेष्टा कहे जा सकते हैं। वस्तु को यथार्थ स्वरूप में दिखाना ही श्रीमद्भागवत का कार्य है। ब्रह्मरूप केवल शुद्ध ब्रह्म ही ब्रह्म, जगत् उपदेश्य और उपदेष्टाओं का कार्य नहीं बना सकता। वहाँ ग्राह्यत्याज्यविवेक नहीं हो सकता। प्रारम्भ में प्रवेश करने के लिये ग्राह्य और त्याज्य दोनों की अपेक्षा है। त्याज्य का निदर्शन होने पर ग्राह्य का ग्रहण सुगम होता है। त्याज्य से ग्राह्य को पृथक् कर लेना ही विवेक है, यही ज्ञान है, और यही ब्रह्मवाद है। श्रीमद्भागवत में यही भरा हुआ है। श्रीमद्भागवत का अर्थ

---

१ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

(गीतोपनिषद्)

ग्राह्यत्याज्यविवेक है। प्रत्येक पदार्थ में भी ग्राह्यत्याज्यविवेक भरा हुआ है। ग्राह्यत्याज्यविवेक से ही श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ हुआ है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

भगवान् पुरुषोत्तम की दश लीलाओं का निरूपण श्रीमद्भागवत में है। दशवाँ आश्रय, आश्रय भी है और लीला भी है। धर्मी भी है और धर्म भी है। सूर्य तेजःपुञ्ज भी है और तेजस्वी (धर्मी) भी है। वास्तव में वह धर्मी ही है, तथापि समझाने के लिये उसके धर्मों को पृथक् दिखाना ही पड़ता है और जब वह समझ में आ जाता है तब उसके धर्म का निरूपण उसमें ही छोड़ दिया जाता है। इसी आशय को लेकर कहना होगा कि श्रीमद्भागवत में केवल भगवान् का (धर्मीका) ही निरूपण है, पर प्रकार और धर्मों के द्वारा है। नव प्रकार हैं, और दशम भगवान्, ब्रह्म, किंवा आश्रय, प्रकारी है, धर्मी है, आश्रय है। भागवत में भगवान् को दूसरों को समझाना है। इसलिये विस्तार की अपेक्षा है। एकका विस्तार इसी प्रकार से हो सकता है। धर्मी और धर्मों का पृथक्करण करके विस्तार किया गया है।

दशम आश्रय है, ब्रह्म है, पुरुषोत्तम है। यही ग्राह्य है और इसी का वाद ब्रह्मवाद है, ग्राह्य ब्रह्मवाद है। इस दशम पदार्थ विशुद्धि करनी है।

---

१ दशधा ज्ञायते रूपं हरेरन्यत्त्रिधा मतम्।
आध्यात्मिकादिभेदेन गुणतः कर्मतोऽपि वा॥
(भाग० सुबो० २।१०।१)

किसी अनिवर्चनीय विशेष (फरक) के द्वारा शुद्धि (चुनकर निकालना) करनी है। सारे विश्व में से आश्रय को चुनकर पृथक् कर लेना है ग्रहण करने के लिये।

विशेष (अन्तर) के द्वारा ही किसी पदार्थ को चुनकर निकालना होता है। यही 'विशुद्धिः विशेषेण द्वारेण शुद्धिः शोधनम्' है। आश्रय का शोधन करता है। आश्रय परब्रह्म है। उसको उसके नियत विशेष के द्वारा चुनकर अलग समझ लेना है। विशेष दश हैं यही भगवद्धर्म हैं यही भगवल्लीला हैं। इस लीला की अनन्त लीला हैं। जगत् अनन्त है तो विशेष धर्म और लीला भी अनन्त होनी ही चाहिये। उन सबमें से चुनकर परब्रह्म को ग्रहण करना है यही श्रीमद्भागवत है। अनन्त विशेषों में से किसी एक को ग्रहण कर लेना इसमें जितना श्रमहोता है उससे कहीं कम श्रम, दश पदार्थों में से चुनने में होता है, इसलिये श्रीमद्भागवत में उन अनन्त विशेषों को समेटकर दश लीलाओं के रूप में कह दिया है। प्रत्येक पदार्थ जब भगवान् है तब प्रत्येक पदार्थ में ये दशों पदार्थ होने चाहिये।

'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः' इत्यादि।

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊती, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय- ये दश पदार्थ लीलाविशेष किंवा धर्म, प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं। क्योंकि शुद्ध ब्रह्मवाद में सारा जगत् ब्रह्म है भगवान् है। दशम आश्रय, शुद्ध ब्रह्म है मुख्य ब्रह्म है, धर्मी है और सर्गादि मुक्त्यन्त लीला, किंवा धर्म, किंवा विशेष, स्वरूप से गौण ब्रह्म हैं। इन लीलाओं में तीन गुणों का सम्बन्ध है इसलिये एक-एक त्रिकमें उत्पादकत्व, स्थापकत्व और विलापकत्व शक्ति रही हुई है। सर्ग, विसर्ग और स्थानक उत्पादक

हैं; पोषण, ऊती और मन्वन्तर स्थापक हैं और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति ये तीन विलापक हैं।

जिस प्रकार से इस भागवतनिर्वचनाध्यायमें इन नव पदार्थों को लीला कही है, इसी प्रकार से विमर्शाध्याय में इन्हीं धर्मों कोअदीनत्व, लीलात्व, हसितत्व, ईक्षणत्व, उल्लासत्व, भ्रूत्व, भङ्गत्व, संसूचितत्व, भूरित्व और अनुग्रहत्व धर्म कहे गये हैं। इनमें दशम अनुग्रह, अनु-पश्चात् ग्रहः एकीभावः (प्रत्यापत्तिः) आश्रय है शुद्ध ब्रह्म है धर्मी है। जिस प्रकार आश्रय धर्म और धर्मी दोनों है इसी तरह अनुग्रह भी दोनों है।

अशरीर और सर्वव्यापक भगवान् का जो अव्यापक और अनित्य, शरीर किंवा स्वरूपग्रहणकरना, बस यही सर्ग पदार्थ है। यह पदार्थ घृत के द्रवत्व की अपेक्षा रहे वह दीन कहा जाता है किन्तु भगवान् अपने कार्य में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता अतएव यह सर्ग ही भगवान् का अदीनत्व धर्म है। भगवान् (आश्रय) ही अपने कार्य के लिये आप ही अव्यक्त सद्रूप (वैराज पुरुष) से प्रकट होता है। घटादि पदार्थ में भी कारणरूप भगवान् अव्यक्त सद्रूप से प्रादुर्भूत हुआ है। इस प्रकार से समष्टि-व्यष्टि दोनों तरह के पदार्थों में प्रविष्टाप्रविष्ट भगवान् (आश्रय) ही विद्यमान है। प्रविष्ट ब्रह्म गौण है और अप्रविष्ट मुख्य ब्रह्म है।

यहाँ तक हम यह दिखा चुके कि जगत् तीन प्रकार का है- सत्य, सत्यासत्य और असत्य। आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आनन्दरूप सच्चिद्रूप और मायिक (अनेकविध) मायिकके आन्तर सच्चिद्रूप के आन्तर आनन्दरूप जगत् है। तीनों मिले हुए हैं गङ्गाजी की तरह। चातुर्मास्य में कुछ बढ़ जाती है और गरमियों में घट जाती है वह जलरूपा गङ्गा पृथक् है। बढ़ते और घटते रहते भी पवित्र करने की शक्तिरूप जो

गङ्गा है वह पृथक् है और जिसका भक्तिभाव के द्वारा कभी-कभी किसी एकाध को दर्शन होता है वह श्वेतमकरस्थिता किरीटकुण्डलमण्डिता मूर्तिमती गङ्गा भी प्रकट है। इस तरह तीनों पृथक् रहते भी मिली हुई हैं। गङ्गा के प्रवाह में ही सब कुछ है। प्रवाह ही सब कुछ है यह रहते भी श्रद्धालु शास्त्रज्ञ और विवेकसमर्थ पुरुष इन तीनों का पार्थक्य कर सकते हैं।

इसी प्रकार तीनों जगत् मिले हुए हैं, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, और तीनों जगत् लीलास्वरूप हैं। इन तीनों जगत् में दो त्याज्य ब्रह्म है, तीसरा आधिदैविक जगत् ग्राह्य ब्रह्म है। तथापि ब्रह्मवेत्ताओं ने विवेक के द्वारा इन तीनों का पार्थक्य कर पाया है और अतएव वे इसके मोह से बच जाते हैं। आनन्दरूप जगत् (भगवान्) सत्य है, आश्रय है, मुख्य ब्रह्म है। जीव के लिये यह अव्यवहार्य है। सच्चिद्रूप जगत्, जिसका हम व्यवहार कर रहे हैं वह सत्यासत्य है, मायोपबृंहित है और गौण ब्रह्म है और व्यवहार्य है और आधिभौतिक मायिक जगत् असत्य है, ज्ञानमात्र है, वार्तामात्र है, गौण ब्रह्म है और बाह्य है, अव्यवहार्य है। आनन्दरूप जगत् (ब्रह्म) में माया का स्पर्श भी नहीं है। उसमें भगवान् और भगवदीय रमण करते हैं। आध्यात्मिक जगत् में माया का स्पर्श है, उसमें सब जीव और भगवान दोनों रमण करते हैं और आधिभौतिक किंवा मायिक जगत् में केवल माया-ही-माया है और केवल अबुध जीव रमण करते हैं।

यह बात व्यवस्थित रहते भी विद्वान् ज्ञानी भगवद्भक्त इस जगत् को विशुद्ध ब्रह्म ही देखते हैं। उन्हें इस जगत् में भगवान् के सिवा अन्य का दर्शन ही नहीं होता। उनको सब कुछ भगवान् मालूम होता है, उन्होंने ग्राह्यत्याज्यविवेक कर लिया है। यद्यपि इस तरह की दृष्टि और वृत्ति होना संसारी जीव के लिये असम्भव-जैसी है तथापि यह सत्य है। भ्रान्त शास्त्र और भ्रान्त बुद्धि को

छोड़कर सब शास्त्र और सब बुद्धियाँ कह रही हैं कि यह दृष्ट-श्रुत सारा जगत् केवल ब्रह्म है, शुद्ध भगवान है, सत्य है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति के आशय में तीनों प्रकार का जगत् है, क्योंकि भगवती श्रुति में सर्वज्ञ पाया है और वास्तव में जब तीनों प्रकार का जगत् मिला हुआ है और ब्रह्म है तब 'इदम्' और 'सर्वम्' के पेट में सब ब्रह्म के सिवा क्या आ सकता है।

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥

इस आध्यात्मिक (सच्चिद्रूप मध्यम) जगत् का उपादान पुरुष जगत् को, बाहर प्रकट कराने वाला काल है और ये तीनों मैं परब्रह्म सर्वाश्रय है। इस वाक्य से प्राकृत जगत् भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

वेदव्यासजी के आशयानुसार सम्पूर्ण वेद 'सर्वं ब्रह्म' इस ब्रह्मवाद के स्थापन के लिये हैं। किन्तु उसी वेद में 'यतोवा इमानि भूतानि' 'तस्माद्वा

---

१ ततो ब्रह्मप्रतिपादनार्थे प्रवृत्ताः श्रुतयः 'यतो वा इमानि' 'तस्माद्वा' इति मध्ये भूतभौतिकसृष्टिं सम्पादयन्ति ब्रह्मनिरूपणार्थम्। तासां किं सृष्टिपरत्वम्, जगतो वा ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वम्, अध्यारोपापवादेन ब्रह्मावबोधस्थिरीकरणार्थम्, माहात्म्यबोधनार्थे वेत्यादिनानासन्देहे तन्निर्धारार्थमाह-बृहदुपलब्धमेतत्-भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा सिद्धार्थप्रामाण्याः साक्षाद्भगवत्प्रतिपादिका इति फलिष्यति, तदर्थे प्रथमं जगतो ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते-एतदुपलब्धं चराचरं जगत् बृहत् इत्येव अवयन्ति ब्रह्मविदो वेदाश्च। नन्वेतदनित्यानात्मदुःखात्मकं ब्रह्म तु तद्विपरीतम्....कथं ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राह-अवशेषतया, अवशिष्यत इत्यवशेषः। यथा काचादिसहिते सुवर्णे यदेवावशिष्यते तस्यैव मूल्यादो व्यपदेशः। यथा वा घृतार्थिनः तन्दुलार्थिनो वा दुग्धधान्यादिषु यदेवावशिष्यते तत्त्वेनैव व्यवहारः क्रयविक्रयादिः। तथा विकासहिते जगति, विकारेष्वपगतेषु ब्रह्मैवावशिष्यत इति। नन्ववशेष एव कथं ब्रह्मणो, निरवशेषतयापि नाशसम्भवात्। न ह्यग्निना जले आवर्त्यमाने सर्वशोषे किञ्चिदवशिष्यते, तस्मात्कथं ब्रह्मेति चेत्-तत्राह-यत उद्यास्तमयाविति। 'यतो वा इमानि' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यते, ब्रह्मणि च लीयते। ननु जगत उदयास्तमयावेव न

एतस्मादात्मनः' इत्यादि श्रुतियों द्वारा मध्य में भूत और भौतिक सृष्टि की भी चर्चा आती रहती है। ऐसे समय यह विचार उपस्थित होता है कि ये भूत और भौतिक पदार्थ ब्रह्म हैं या कुछ और ही ? यदि अन्य पदार्थ हैं तो फिर वेद केवल ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं यह कैसे कहा जाय ? यदि अन्य पदार्थ हैं तो फिर वेद केवल ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं यह कैसे कहा जाय ? हाँ, यदि भूत-भौतिकादि पदार्थों का ब्रह्म होना सिद्ध हो जाय, तब तो शुद्ध ब्रह्मवाद का स्थापन हो जाय, इस हेतु से एक श्रुति कहती है कि-

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥

यह जड-चेतन विश्व जो कुछ मिल रहा है वह सब ब्रह्म (भगवान्) है और इस सिद्धान्त का निश्चय ब्रह्मवेत्ता और वेद कर चुके हैं। यद्यपि

भवतः।.....दर्शनदर्शनरूपत्वमाविर्भावतिरोभावरूपत्वं वा जगतोऽवगन्तव्यमुत्पत्तिप्रलयायोः।... तत्राह-विकृतेः। अस्तु धर्मिणो वार्ता, विकाराः सर्वे पूर्वमविद्यमाना एव आश्रयमाश्रित्य उत्पद्यन्त इत्यवगन्तव्यम्। अत उदयास्तमयावेव विकारजातस्याङ्गीकर्तव्यौ। यत्किञ्चिन्मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद्वाचा अनूद्यं तत्सर्वं त्वय्येव विषये भवति। मनस्तु मनोरथं भावयतीति मिथ्याविषयमेव भवति, तथा वागपि। यत्र वाङ्मनोविषयस्यापि ब्रह्मत्वम्' तत्र कात्स्न्येंन अभिव्यक्तस्य जगतो ब्रह्मत्वे कः सन्देहः। तेन ब्रह्मविदां सर्वे व्यवहारा ब्रह्मपरा एवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेप इति सिद्धयति।नन्वसत्यस्य कथं ब्रह्मत्वं तत्राहं-'कथमयथा०'। भ्रमप्रतीतपदार्थानामपि ब्रह्मत्वात् तत्त्वेनैव तस्य भानात्। नहि ब्रह्मातिरिक्तो भासते। तन्तुभ्यः पटरूपेणाविर्भावे, शुक्तिकायां वा रजतरूपेणाविर्भावे भगवदिच्छायां न कश्चन विशेषोऽस्ति, कार्यस्यापि प्रावणस्य सुखस्य वा तुल्यत्वात्। अतो मूलभूतस्य सत्यत्वादन्यथा बुद्धयापि मनोवचनस्थापनं ब्रह्मविषयमेव भवतीत्यर्थः।

(भाग० सुबोधिनी १० स्कं० वेदसुतिः)

जगत् अनित्य, दुःखरूप और परिच्छिन्न है, और आश्रय ब्रह्म (जगन्नामक विश्व) नित्य सुखरूप और व्यापक है, दोनों में आकाश-पाताल का भेद है। अतएव विश्व के ब्रह्म होने में प्रत्यक्ष और युक्ति का विरोध आता है तथापि यह विश्व शुद्ध ब्रह्म है। ब्रह्मावशेष रहने से।

आत्यन्तिक प्रलय में भगवान्-ही-भगवान् शेष रह जाता है। समझदार मनुष्य सुवर्ण की परीक्षा में अवशेष को ही प्रमाण मानता है। सोने के गहनों में काचादिसहित सुवर्ण होता है किन्तु जब सुवर्णकार उसे गलाता है तब वह गहना केवल सुवर्ण ही बाकी रह जाता है इस अवशेष से निश्चय कर लिया जाता है कि गहना सुवर्ण है।

घृतार्थी मनुष्य जब दुग्ध किंवा दही का ग्रहण करता है तब अवशेष पर ही दृष्टि देता है अर्थात् इस दही किंवा दुग्ध का घृत कितना शेष रहेगा और उस पर से ही दही-दूध का मूल्य करता है। धान खरीदने वाला भी उसका चावल कितना बैठेगा इस अवशेष पर ही निगाह रखता है। गहना खरीदने वाला अवशेष द्वारा सुवर्ण निश्चय करके, धान खरीदने वाला अवशेष से चावल का अन्दाज करके और दूध लेने वाला अवशेषद्वारा घी का निश्चय करके ही गहना, धान और दूध खरीदता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि 'अवशेष' वस्तु का निश्चय कराने वाला प्रमाण है। उस अवशेष से जगत् ब्रह्म है, यह निश्चय होता है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि केवल ब्रह्म का ही अवशेष कैसे रह सकता है? अग्नि पर जल चढ़ाकर जलाने लगेंगे तो पानी में जो कुछ होगा वह भी जल जायगा और साथ में पानी भी जलता रहेगा और थोड़ी देर में पानी सहित कुछ भी बाकी न रहेगा। ऐसी दशा में ब्रह्मावशेष से जगत् को ब्रह्म कहना ठीक नहीं है।

इसका यह उत्तर है कि जल में दो तरह के पदार्थ होते हैं- आगन्तुक और अनागन्तुक। जल और जल के धर्म स्वयं अनागन्तुक पदार्थ हैं और उसका क्षारपन, ताप, किंवा मलिनता प्रभृति आगन्तुक है। आगन्तुक पदार्थों की उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं किन्तु मूल जल पदार्थ सर्वदा विद्यमान रहता है, भाप होकर चला जाता है, अपनी दृष्टि से नहीं दीखता, उसका तिरोभाव हो जाता है। इसी तरह से जगत् वास्तव में ब्रह्म है किन्तु सृष्टि-अवस्था में मलिनता, अन्यनियम्यता, परिच्छेद, नश्वरता आदि अनेक आगन्तुक (माया के किंवा काल के) धर्म शामिल हो जाते हैं। किन्तु प्रलयावस्था में उन सब आगन्तुक पदार्थों का नाश हो जाता है तब केवल ब्रह्म पदार्थ ही बाकी रह जाता है। इसलिये ब्रह्मावशेष से 'जगत् ब्रह्म है' यह निश्चय कर लेना युक्तियुक्त है।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि जन्म और नाश को हम उत्पत्ति-प्रलय क्यों कहें, आविर्भाव-तिरोभाव ही क्यों न कहें? जनी प्रादुर्भावे और णश् अदर्शने धातुओं की दृष्टि से तो जन्म-नाश को आविर्भाव-तिरोभाव कहना ही उचित है और जब जगत् के जन्म-नाश नहीं पर आविर्भाव-तिरोभाव मान लेते हैं तब फिर यह कहना पड़ेगा कि केवल ब्रह्म कि केवल ब्रह्म का ही अवशेष नहीं किन्तु जगत् का भी अवशेष ही रहा। ऐसी अवस्था में 'जगत् ब्रह्म है' इस साध्य में 'ब्रह्मावशेष को' हेतु देना ठीक नहीं है? इसके उत्तर में कहना होता है कि विकार रूप जो जगत् है उसके आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होते किन्तु जन्म-नाश (उत्पत्ति-प्रलय) ही होते हैं। प्रलयावस्था में विकृत जगत् का नाश हो जाने पर केवल आश्रय (जगत्) ब्रह्म रह जाने से जगत् ब्रह्म है, जगत् जगत् नहीं, यह निश्चय हो जाता है। आश्रयरूप जगत् तो ब्रह्म ही है, ब्रह्म का ही एक

नामान्तर है। परब्रह्म एक रूप से भी व्यापक है और अनन्त रूपों से भी व्यापक है। उन अनन्त रूपों में भ्रमप्रतीत जगत्, मध्यम जगत् और आधिदैविक आश्रयरूप जगत् भी है। गम् धातु के अर्थ को लेकर ही तीनों का यौगिक नाम है। केवल आधिदैविक जगत् में ही आविर्भाव-तिरोभाव को गमन का अर्थ समझना चाहिये और अपर विश्वों में उत्पत्ति-प्रलय किंवा जन्म-नाश को गमन समझना उचित है। जगत् कोई पदार्थ ब्रह्म से अलग ही नहीं। प्रकार भेद रहने पर भी तीनों प्रकार का जगत् ब्रह्म है। सत्य जगत् ब्रह्म है, सत्यानृत जगत् ब्रह्म है और असत्य जगत् भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूप वस्तु ही ऐसी है कि जिसमें लौकिक वाणी और मन को असत्यता किंवा भ्रम हो जाता है और वेद जो सत्यार्थ का प्रकाश करता है वह भी ऐसे परोक्ष ढङ्ग से उस वस्तु का निरूपण करता है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी तत्त्वनिरूपण करते समय भ्रम में पड़ जाते हैं-

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्।

वेदवाणी वास्तव में सर्वत्र ब्रह्म का ही निरूपण करती है, पर श्लेषमर्यादा से परोक्षवादरूप से, क्योंकि उसे सारी दुनिया को वैदिक धर्म में लाना है, धीरे-धीरे उच्चाधिकारी बनना है। एक तो वेद की परोक्षवादपद्धति,और दूसरे अनृत (माया) संवलित मन तथा अनृत को ही कहने वाली लौकिक वाणी, इन कारणों से सत्यानृत जगत् में फँसे हुए मनुष्य तथा कितने ही तत्त्ववेत्ता लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। इन तीनों जगत् के भेद को न समझकर कितने ही तो सत्य जगत् को असत्य सिद्ध करने में ही अपना पाण्डित्य व्यय कर देते हैं और कितने ही सत्यानृत को भी केवल सत्य समझाने का आग्रह करने लगते हैं।

'शशश्रृङ्गमस्ति' कहने पर भी शब्दराशि विषय का ज्ञान करा ही

देता है और अनृतानुमोदित मन उसको वैसा समझने भी लगता है पर वास्तव में तदर्थ सत्य नहीं हैं। इतना रहने पर भी शब्द ब्रह्म होने से वह ब्रह्म तो कहा ही जायगा। यह बात दूसरी है कि वह दूसरे प्रकार का ब्रह्म है। इसलिये लौकिक वाक् और लौकिक मन का विषय जगत् दूसरा है, सत्यानृत है और उसका तो उत्पत्ति-प्रलय ही होते हैं, आविर्भाव-तिरोभाव नहीं। तथापि वह ब्रह्म तो है ही, ब्रह्मवेत्ताओं का मन सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने वाला होता है अतएव वे सब जरह के जगत् का व्यवहार करते हैं तथापि उनका वह व्यवहार ब्रह्म पर ही होता है और किसी तरह के कर्म से भी उनको न लेप होता है और न बन्धन। शतशः प्रकार के मिट्टी के बर्तनों पर यदि पैर रक्खोगे तो क्या वह 'पैर पृथ्वी पर धरा है' यह नहीं कह सकते? पृथ्वी पर ही कहा जायगा।

यहाँ यह एक प्रश्न और होता है कि असत्य पदार्थ, भ्रम-प्रतीत पदार्थ ब्रह्म कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'कथमयथा'। भ्रमप्रतीत पदार्थ भी ब्रह्म है। सद्रूप चिद्रूप पदार्थ ब्रह्म हैं। भ्रमप्रतीत पदार्थ भले सद्रूप न हों तथापि वे चिद्रूप तो है ही। यदि उसमें चिद्रूप ब्रह्म न होता तो उसका ज्ञान ही कैसे होता। समान ग्राहकताका नियम है, इसलिये भ्रमप्रतीत पदार्थ भी ब्रह्म है। ब्रह्मातिरिक्त का ज्ञान ही नहीं हो सकता। आश्रयरूप ब्रह्म सर्व पदार्थों में विद्यमान रहता है-

सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः।
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते॥

सर्वमूल सर्वाश्रय श्रीकृष्ण भगवान् सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, शुक्तिका-रजतादि में भी आश्रयरूप से रहता ही है। इसलिये महात्माओं को सब पदार्थों में कृष्ण के दर्शन होते हैं। अब यह बात सिद्ध हो चुकी

कि सर्वाश्रयरूप ब्रह्म (जगत्) सत्य है। यह आधिदैविक जगत् है। इस ब्रह्म किंवा जगत् में माया का लेश भी नहीं है। इसकी सामर्थ्य से ही सब जगत् में सामर्थ्य आती है और रहती है। तदनन्तर दूसरा जगत् मायोपबृंहित है। जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि होते रहते हैं। यह भी ब्रह्म है, पर सत्यानृत्य है। सत्य भी आप और अनृत भी आप हो गया है। सत्य आत्मा, और अनृत अनात्मा माया। इसका विस्तार से निरूपण 'सा वा एतस्य' इस श्लोक में कर चुके हैं। घटपटादि सारे जगत् में यह सत्यानृत भरा हुआ है। लौकिक लोग इसके रहस्य का न जानकर सत्य समझकर फँस जाते हैं और ब्रह्मवेत्ता लोग रहस्यवेत्ता होने से दोनों में ब्रह्म का दर्शन करते हैं, निर्लेप रहते हैं। इस मध्यम जगत् में ब्रह्मांश भी है, मायांश भी है पर दोनों ब्रह्म हैं, एक शक्तिमान् है तो दूसरी शक्ति है। धर्म-धर्मी दोनों एक हैं। तीसरा जगत् भ्रमप्रतीत है, केवल मायिक है, विषयता है। किन्तु वह भी ब्रह्म है। दो प्रकार के जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, इस तरह सब कुछ ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

कहने का आशय यह है कि जगत् कोई पृथक् पदार्थ है ही नहीं। ब्रह्म ही सर्वत्र फैला हुआ है। अज्ञानी लोग उसे ही जंगत् नाम से पृथक् पदार्थ मान बैठे हैं। सत्,चित्, आनन्द और अज्ञान ये चार पदार्थ मान बैठे हैं। सत्, चित्त, आनन्द और अज्ञान ये चार पदार्थ ही तो जगत् में दीख रहे हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो ये चारों पदार्थ ब्रह्म के ही अंश है। सत्यता ब्रह्म की है जगत् की नहीं। ज्ञान भी ब्रह्म का अंश है जगत् का नहीं। और आनन्द भी ब्रह्म का ही है जगत् का नहीं। अब रहा अज्ञान, सो भी आत्मशक्ति माया है, आत्मा, ज्ञानरूप है, और उसका अज्ञान भी एक तरह का ज्ञान ही है। कुछ-का-कुछ समझना यह भी तो समझ ही है।

ज्ञान के साथ उसका विरोध यही अज्ञान। अतएव इसे माया कहते हैं।

जगत् का कोई अंश, जगत् का अपना ही नहीं है। सब सम्पत्ति माँगी हुई है, या दूसरे की ही है। ब्रह्म के ही सत्य, ज्ञान और आनन्द फैले हुए जगत् कहे जाते हैं। जगत् कोई पदार्थ पृथक् नहीं है और है तो ब्रह्म है। यह बात श्रुतिस्तुति में यों कही है-

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥३६॥

यह[१] बात पूर्व श्रुतियों के द्वारा सिद्ध हो चुकी कि सब प्रकारों से केवल भगवान् का ही भजन कर्तव्य है। भगवान् दो प्रकार का है-

---

१ एवं सर्वप्रकारैर्भगवद्भजनं निरूप्य सम्यङ्मार्गानुसारेण स्थिरीकृत्य भजनीयनिर्धारार्थे यतमाना: सच्चिदानन्दो भगवान् इति वक्तुम्, लोके सच्चिदानन्दा धर्मा एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यम् प्रत्येकमपि क्वचिदपि धर्मा न सन्तीति कथनार्थे षड्भिः श्लोकैर्द्वाभ्यामेकैकस्य, लोके जडे सत्त्वम्, चेतने चित्त्वम् स्वर्गादावानन्दत्वं च नास्तीति निराकुर्वन्ति। तत्र द्वाभ्यां जगति सत्त्वं निराक्रियते। अन्यथा भगवानेव सन्नित्यर्थो नोपपद्येत। भजनीयनिर्धारे गौणसत्त्वस्य अप्रयोजकत्वात्। ज्ञानार्थे दोषाभावार्थे वा तदुपयोगः। असत्सेवया पूर्वं नाशो निरूपितः सत्सेवया कृतार्थता च। यदि जगत्यपि सत्त्वं स्यात् तदा तत्रापि भजनं भवेत्। भजने वा दोषो न स्यादिति। तदवश्यं निराकर्तव्यम्। तत्र जगतो ये सत्त्वं वदन्ति तन्मतं वादमुद्रया निराकुर्वन्ति- सत इदमित्यादि। पूर्वपक्षे,"'इदं जगत्सदेव सत उत्पन्नत्वात्। यो यादृशादुत्पद्यते स तादृश एव भवति। यथा सुवर्णादुत्पन्नं कुण्डलम्, ... तथा ब्रह्मणोऽप्युत्पन्नं जगत्सदेव। सद्दूषयति, 'इति चेन्न।' यज्जगति सत्त्वं साध्यते तत्किं कारणसत्त्वमेव कार्ये समायातीत्युच्यते, आहोस्विदारम्भन्यायेन कार्ये सत्त्वान्तरं जन्यते। यदि कारणसत्त्वं कार्ये समागच्छेत्, कारणमसत्स्यात्। स्वनाशे आशङ्क्यमाने कार्यमपि न जनयेत्। अतः स्वनाशशङ्क्या भगवान् जगदपि न कुर्यात्। नापि सत्त्वलक्षणो गुणः क्वचित्कारणे स्थितः कार्ये समागत इति आवयोः सम्प्रतिपत्तिरस्ति। अथ द्वितीयः पक्षः। तदप्यसत्। व्यभिचारित्वात्। सतोऽप्यङ्गाद्वेनः असन्नेव

आधाररूप और आधेयरूप। लोक में लौकिक रूप (आध्यात्मिक-आधिभौतिक जगत्रूप) से प्रकाशित हुआ भी भगवान् है और उन सबका आधाररूप सच्चिदानन्द भगवान् भी भगवान् है। दोनों में से किसकी सेवा करनी चाहये। वास्तव में देखा जाए तो लोक में एक ही जगह सत, चित्, आनन्द तीनों तो मिलते ही नहीं परन्तु ये तीनों पृथक्-पृथक् भी जगत् में नहीं हैं। उसमें सबसे पहले जगत् के सत्यत्व का खण्डन करते हैं अन्यथा भगवान् ही केवल सत्य हैं, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। यहाँ एक यह आशङ्का हो सकती है कि जगत् में चाहे मुख्य सत्त्व न हो किन्तु आगन्तुक सत्यत्व तो है ही। जगत् भगवान् का अंश है, अंशीका धर्म अंश में आता है इसलिये आगन्तुक सत्त्व मानना ही पड़ेगा। फिर जगत् सत्य नहीं है यह किस आधार पर कहते हो तो इसका उत्तर इतना ही है कि गौण सत्यत्व अप्रयोजक है। 'सब कुछ ब्रह्म है' यह समझने के लिये गौण सत्त्व का उपयोग कर लिया जाय किंवा ब्रह्म को

जातः। न च वक्तव्यं तत्रासदंशः संघाते स्थित इति। तथासति तावन्मात्रमेव कार्येऽप्यसत् स्यात्। न तु स्वभावादिः। ननु बीजे स एव संक्रान्त इति चेत्तर्हि ततः पृथोराविर्भावो न स्यात्। ननु बीजे स एवं संक्रान्त इति चेत्तर्हि ततः पृथोराविर्भावो न स्यात्। ननु न कारणमात्रं कार्ये सत्त्वमुत्पादयति किन्तु समवायिकरणमेव।'''''''' तत्राह-क्व च मृषेति। शुक्तिकातः भ्रान्तप्रतिपन्नं रजतमुत्पद्यते, शुक्तिकायाः सत्यत्वेऽपि न तत्सत्यं भवति। शुक्तिकाश्रयत्वात्तद्रजतस्य शुक्तिकैव समवायिकारणं तस्माद् व्यभिचारः सिद्धः। ननु न केवला शुक्तिस्तत्रोपादानं किन्तु दोषसहिता। ननु तथापि एकांशेन रजतं सत्यं स्यान्न तु सर्वथासत्यं तदाह नेति। ननु सदंशो दोषवशात्तत्र तिरोहित इति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि, तथा प्रतीयतां मनोदोषेण ज़गदन्यथा प्रतीयत इति। अन्यथा जगत् सदसदात्मकम्, न केवलं सत्। हेत्वन्तरमाह- 'व्यवहृतये'-। न चात्र चक्षुष्मत्परम्परेति प्रमाणमस्ति। ननु वेदानुरोधाज्जगतः सत्त्वमङ्गीक्रियते तत्राह-भ्रमयति। भारती वेदरूपा त्वदीया वाणी कर्मपरान् भ्रामयति। भ्रामणप्रकारस्तु द्वितीयस्कन्धे निरूपितः 'वेदो हि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह लोकः परं भ्राम्यति जगद्गतमिति। (भाग० सुबो० वेदस्तुतिः)

निर्दोष दिखाने के लिये भी गौण सत्त्व का उपयोग कर सकते हैं। किन्तु यहाँ भजनीय स्वरूप का निर्णय करना है। कौन-से भगवान् की सेवा करनी उचित है यह वेदस्तुति ने निर्णय किया है। सेवनीय के निर्णय में गौण सत्त्व अप्रयोजक है। असत्सेवासे नाश और सत्सेवासे कृतार्थता होती है, यह पहले निरूपण हो चुका है। अब यदि जगत् को भी सत्य मान लिया जाय तो उसका भी सेवन प्राप्त हो, किंवा कोई उसका सेवन (विषय सेवन) करे तो वह निर्दोष कहा जाय? इसलिये जगत् का सत्यत्व निराकर्तव्य ही है। सो वादकी रीति से निराकरण करते हैं-

'सत इदमुत्थितं सत् इति चेत' इत्यादि।

वादी अपने वाद की उपपत्ति में एक अनुमान को आगे करता है कि यह जगत् सत्य है क्योंकि सत्य ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही होता है। जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कुण्डल भी सुवर्ण ही होता है। वादी के इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती तर्कके सामने तर्क से ही उसको निग्रह स्थान में लाता है। भद्रमुख! यह जो आप कारणानुमान से कार्य में सत्यता लाते हैं, वह सत्यता क्या कारण की सत्यता ही कार्य में आ जाती है, या आरम्भ न्याय से (त्रसरेणु आदि में रूप आदि की तरह) कोई नवीन सत्यता ही कार्य में पैदा हो जाती है। पहला पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि यदि कारण की सत्यता ही कार्य में आ जाती है तो कारण असत्य हो जाना चाहिये और स्वनाश की आशङ्का से कारण से कार्य की उत्पत्ति ही क्यों होने लगी। और आजतक न हमें और न तुम्हें, ऐसा अनुभव हुआ कि कारण का सत्यत्वरूप गुण कार्य में उतरता हुआ दीखा हो।

अब यदि कहो कि कारण के सत्यत्व ने कार्य में दूसरा ही सत्यत्व

पैदा कर दिया है तो भी ठीक नहीं क्योंकि सत्य से सत्य ही पैदा हो ऐसा निश्चित नियम नहीं है। अङ्ग राजा से वेन-जैसे दुष्ट की उत्पत्ति हुई है। यदि कहो कि अङ्ग के देह में असत् अंश बीज में भी संक्रान्त हुआ इसलिये वेन के स्वभावादि भी असत् हुए तो फिर वेन के देह से पृथु-सदृश उत्तमका होना असम्भव है। यदि कहो कि बीज निमित्तकारण है, समवायिकरण से उत्पन्न तत्सदृश होता है, तो भी ठीक नहीं, सीप में चाँदी का भ्रम होता है। यह चाँदी सीप का आश्रय लेकर ही उत्पन्न होती है इसलिये इस भ्रमप्रतिपन्न चाँदी का समवायिकारण सीप है किन्तु सीप सत्य है पर उससे उत्पन चाँदी असत्य। यदि कहो कि केवल शुक्तिकाश्रित चाँदी नहीं पैदा होती किन्तु चाकचक्यादि तथा विशेष का मालूम न होना भी साथ में है इसलिये वह असत्य चाँदी पैदा होती है तो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी अवस्था में एकांश में रजत सत्य रहेगा सर्वथा असत्य नहीं। पर रजत तो सर्वथा असत्य है। यदि कहो कि रजत का सदंश दोष से छिप गया है तो फिर जगत् के विषय में भी ऐसा ही समझ लीजिये। अर्थात् अपने दोष से ही जगत् भगवान् से पृथक् सत्य प्रतीत होता है। अन्यथा सच्चिदानन्द भगवान् ही जगत् है तो वैसा न दीखकर ऐसा क्यों दीखता है।

और क्या ब्रह्मकारणवाद की जिम्मेदारी है। प्रकृतिपुरूषवाद भी तो दुनिया में फैला हुआ है उसे क्यों न मान लिया जाय। प्रकृति पुरूष असत्सत् हैं इसलिये उनसे पैदा हुआ यह जगत् सदसदात्मक होना उचित है न कि केवल सत्य ही।

यदि कहो कि दुनिया की समझ में यह जगत् सत्य है इसलिये सत्य ही मानना चाहिये। लोकप्रतीति भी प्रमाण मानी जाती है, जैसे ब्रह्म

के विषय में। साधारण लोग ब्रह्म को जैसे सत्य मानते हैं वैसे वे जगत् को भी सत्य मानते हैं, यह ठीक है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यह तुम्हारी विशिष्ट कल्पना केवल कल्पनामात्र है वास्तविक सत्य नहीं है। 'जगत् सत्य है' इस दुनिया की प्रतीति में कोई ठोस प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि प्रतीतिपरम्परा ही प्रमाण है, अनादि काल से सब लोग जगत् को सत्य मानते चले आ रहे हैं तो इस परम्परा के प्रमाण से सत्य ही मानना उचित है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह परम्परा दिखाते हुए मनुष्यों की परम्परा नहीं किन्तु अन्धों की परम्परा है, करोड़ों अन्धों की परम्परा भी प्रमाण नहीं हो सकती। यदि कहो कि 'तत्सत्यम्' इत्यादि वेद की श्रुति के बल से हम जगत् को सत्य कहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि वेद तो केवल ब्रह्म के सत्यत्व का अनुवाद करता है। '<u>ऐतदात्म्यमिदं</u> सर्वम्' यह सब ब्रह्म है यों सब को ब्रह्म बताकर फिर कहता है कि तत्-वह-सब-सत्यम्-सच्चा है। ऐसी अवस्था में ब्रह्म को ही सत्य कहता है। जगत् को पृथक् मानकर सत्य नहीं कहता। पर लोग उस वाक्य के आशय को न समझकर जगत् को सत्य मान बैठते हैं। भ्रम में आ रहे हैं।

द्वितीय स्कन्ध में कहा है कि-

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः॥
(श्रीमद्भा० २।२।२)

वेद को सारी दुनिया को अपने मार्ग पर लाना है शनैः शनैः। अनुगृहीत तत्त्ववेत्ताओं के अलग साधारण लोग वेद की श्लिष्ट वाणी को नहीं पहचान सकते अतएव भ्रम में पड़ जाते हैं और वासनायुक्त मन से मायामय जगत् को ही उसका लक्ष्य समझकर स्वर्गादिफलक कर्ममार्ग में फँस जाते हैं। वेद तो सर्वत्र ब्रह्म का ही निरूपण करता है। जहाँ इन्द्र का निरूपण है वहाँ वेद का आशय किसी पृथक् इन्द्र से नहीं किन्तु भगवान् से ही है। भगवान् की बाहु इन्द्र है। इस तरह सारे वेद में श्लिष्ट वाणी से ब्रह्म का ही निरूपण है पर लोग वासनावश मायामय जगत् का उसका लक्ष्य बना लेते हैं। ऐसा होने से मार्ग से च्युत होकर भ्रमण करते रहते हैं और वास्तव अर्थ भगवान् को नहीं पहुँचते-

सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्।
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः॥

सेवनीय के निर्णय में यह निश्चय है कि जगत् को सत्य मानकर इसका सेवन सर्वथा न करे, जो कुछ दिखता और सुनने में आता है वह जगत् है वह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, जगत् की पृथक् सत्ता ही नहीं है। जगत् को पृथक् पदार्थ मानकर और सत्य मानना यह जीव का भ्रम (अविद्या) है इसलिये सर्वदा सत्य भगवान् श्रीकृष्ण का ही सेवन करे।

ठीक[१] है जगत् सत्य न रहे, और इसी हेतु से जो लोग इस जगत् के सेवन में एकदम लिप्त हो रहे हैं निवृत्त हो जायँगे। पर जो लोग

---

१ ननु जगतः सत्यत्वं मास्तु, तेन विशेषतः सेवमाना न सेविष्यन्ति। ये तु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्ध्येत्। सत्त्वत्। असत्त्वस्यापि जगत्यभावात्। यद्यसत्त्वसाधकमत्र न भवेत् तदैवं वक्तुं शक्येताऽपि। असत्त्वसाधकं तु वर्तते। इदं जगत्

अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतया इसका सेवन कर रहे हैं उनको सेवन का निषेध कैसे किया जाय? जगत् यदि सत्य नहीं है तो एकदम असत्य भी नहीं है इसलिये जगत् सत् और असत् से पृथक् ही है। तो अब जगत् का एकदम परित्याग नहीं हो सकता यह आशङ्का करके कहते हैं कि-

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

यह बात तब हो सकती थी जब जगत् को असत्य मानने को कोई कारण न मिलता। पर असत्यसाधक कारण मिल रहा है। यह जगत् असत् है, कादाचित्क होने से, जो कादाचित्क न हो वह असत् भी नहीं होता, जैसे ब्रह्म। ब्रह्म कादाचित्क नहीं है इसलिये असत् भी नहीं है। सृष्टि के पूर्व में यह जगत् अपने

असत् कादाचित्कत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्मेति। यद्यस्मादिदं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वं नाऽऽस। न वा अतो निधनात्प्रलयानन्तरं च भविष्यति। अतो मध्ये कदाचितदेव जातम्, तेन ज्ञायते असदिति। यद्धि सत् तत्कालत्रयेऽपि भवति। नन्वनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति न त्वसत्त्वम्। व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते न तु धर्मान्तरमिति चेत् तत्राह- 'अनुमितमन्तरा त्वयि मृषैव भाति'। यद्धि यस्मिन्विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम्। यथा शुक्तिकायां रजतं तथा सर्वमिदं ब्रह्म, श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम्, तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हति। इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा। ननु तथाप्यसत्त्वं कथं सेत्स्यति, न ह्यसतः प्रतीतिरस्ति इति चेदत आह असत्सादृश्याज्जगदसदित्युपमीयते। ननु वैदिकानां महतामपि जगति सद्बुद्धिः, अन्यथाऽस्य असत्त्वे, स्थैर्याभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः, तत्राह- वितथमनोविलासम्। ऋतम् इति अबुधा अवयन्ति। एतादृशमपि सत्यमिति मन्यन्ते तेऽबुधाः। (भाग० सुबो० वेदस्तुतिः)

वेद को सारी दुनिया को अपने मार्ग पर लाना है शनैः शनैः। अनुगृहीत तत्त्ववेत्ताओं के अलग साधारण लोग वेद की श्लिष्ट वाणी को नहीं पहचान सकते अतएव भ्रम में पड़ जाते हैं और वासनायुक्त मन से मायामय जगत् को ही उसका लक्ष्य समझकर स्वर्गादिफलक कर्ममार्ग में फँस जाते हैं। वेद तो सर्वत्र ब्रह्म का ही निरूपण करता है। जहाँ इन्द्र का निरूपण है वहाँ वेद का आशय किसी पृथक् इन्द्र से नहीं किन्तु भगवान् से ही है। भगवान् की बाहु इन्द्र है। इस तरह सारे वेद में श्लिष्ट वाणी से ब्रह्म का ही निरूपण है पर लोग वासनावश मायामय जगत् का उसका लक्ष्य बना लेते हैं। ऐसा होने से मार्ग से च्युत होकर भ्रमण करते रहते हैं और वास्तव अर्थ भगवान् को नहीं पहुँचते-

सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्।
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः॥

सेवनीय के निर्णय में यह निश्चय है कि जगत् को सत्य मानकर इसका सेवन सर्वथा न करे, जो कुछ दिखता और सुनने में आता है वह जगत् है वह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, जगत् की पृथक् सत्ता ही नहीं है। जगत् को पृथक् पदार्थ मानकर और सत्य मानना यह जीव का भ्रम (अविद्या) है इसलिये सर्वदा सत्य भगवान् श्रीकृष्ण का ही सेवन करे।

ठीक[१] है जगत् सत्य न रहे, और इसी हेतु से जो लोग इस जगत् के सेवन में एकदम लिप्त हो रहे हैं निवृत्त हो जायँगे। पर जो लोग

१ ननु जगतः सत्यत्वं मास्तु, तेन विशेषतः सेवमाना न सेविष्यन्ति। ये तु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्ध्येत्। सत्त्वत्। असत्त्वस्यापि जगत्यभावात्। यद्यसत्त्वसाधकमत्र न भवेत् तदैवं वक्तुं शक्येताऽपि। असत्त्वसाधकं तु वर्तते। इदं जगत्

अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतया इसका सेवन कर रहे हैं उनको सेवन का निषेध कैसे किया जाय? जगत् यदि सत्य नहीं है तो एकदम असत्य भी नहीं है इसलिये जगत् सत् और असत् से पृथक् ही है। तो अब जगत् का एकदम परित्याग नहीं हो सकता यह आशङ्का करके कहते हैं कि-

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

यह बात तब हो सकती थी जब जगत् को असत्य मानने को कोई कारण न मिलता। पर असत्यसाधक कारण मिल रहा है। यह जगत् असत् है, कादाचित्क होने से, जो कादाचित्क न हो वह असत् भी नहीं होता, जैसे ब्रह्म। ब्रह्म कादाचित्क नहीं है इसलिये असत् भी नहीं है। सृष्टि के पूर्व में यह जगत् अपने

असत् कादाचित्कत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्मेति। यद्यस्मादिदं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वे नाऽऽस। न वा अतो निधनात्प्रलयानन्तरं च भविष्यति। अतो मध्ये कदाचितदेव जातम्, तेन ज्ञायते असदिति। यद्धि सत् तत्कालत्रयेऽपि भवति। नन्वनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति न त्वसत्त्वम्। व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते न तु धर्मान्तरमिति चेत् तत्राह- 'अनुमितमन्तरा त्वयि मृषैव भाति'। यद्धि यस्मिन्विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम्। यथा शुक्तिकायां रजतं तथा सर्वमिदं ब्रह्म, श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम्, तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हति। इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा। ननु तथाप्यसत्त्वं कथं सेत्स्यति, न ह्यसतः प्रतीतिरस्ति इति चेदत आह असत्सादृश्याज्जगदसदित्युपमीयते। ननु वैदिकानां महतामपि जगति सद्बुद्धिः, अन्यथाऽस्य असत्त्वे, स्थैर्याभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः, तत्राह- वितथमनोविलासम्। ऋतम् इति अबुधा अवयन्ति। एतादृशमपि सत्यमिति मन्यन्ते तेऽबुधाः। (भाग० सुबो० वेदस्तुतिः)

स्वरूप से वर्तमान नहीं था, और प्रलय के अनन्तर रहेगा भी नहीं, केवल मध्य में दीखने लगता है और वह भी कदाचित्। अर्थात् कभी दीखता है कभी नहीं भी दीखता। इसलिये यह जगत् असत् है। जो सत् होता है वह तीनों काल में रहता है। भगवान् का आधार होने से झूठा है तथापि दीखता है। जैसे शुक्तिका के आश्रय से असत्य चाँदी दीखने लगती है और यह दीखना भी अनुमानमात्र है प्रत्यक्ष नहीं–

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्।

इस प्रत्यक्ष के लक्षण के अनुसार सत्य पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष होता है, यहाँ तो चाँदी झूठी है इसलिये चाँदी का अन्दाज ही मानना पड़ेगा।

आप (भगवान्) एकरस हैं। आपके स्वरूप में यह विभिन्न रस जगत् अपनी स्वतन्त्र सत्ता से जो दीखता है वह बिल्कुल झूठा है। शशश्रृङ्ग, शुक्तिरजतादिकी समानता से इसे झूठा ही समझ लेना उचित है। भान तो केवल आश्रय के अनुरोध से होता है। मन के मनोरथ जैसे झूठे भी बुद्धि में भासित होते हैं इसी तरह यह जगत् भासित होता है। प्रिय–अप्रिय, शुद्ध-अशुद्ध अनेक प्रकार से मनोरथ होते हैं। इसी प्रकार से जगत् भिन्न भासित होता है। इस तरह असत् रहते भी जो लोग इस भगवान् से स्वतन्त्र सत्ता का मानकर इसमें लिप्त रहते हैं वे सर्वथा मूर्ख हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जगत् अपनी सत्ता से सत्य नहीं है किन्तु भगवान् ही जगत् रूप धारण करके प्रतिभासित हो रहा है, यह सब भगवान्–ही–भगवान् है। जगत् नहीं है। भगवान् के ही रूपों में से एक रूप यह है।

जिस[1] तरह जडांश में (सदंश में) स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसी प्रकार चिदंश में भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जीव स्वयं अपनी सत्ता से सत्य नहीं है। जीव स्वरूप से कुछ नहीं है। जीव भी भगवान् ही है। भगवान् सेव्य हैं, चित्सेव्य नहीं है। जीवों की जो सेवा-पूजा सत्कृति होती है वह सब जीव की नहीं किन्तु भगवान् की ही होती है। भगवत्स्वरूपस्थित की ही सेवा होती है, जीव तो स्वरूप से च्युत है। भगवान् माया किंवा अविद्या की चिन्ता नहीं करता किन्तु जीव तो माया किंवा अविद्या के वश होकर उसके गुणों का सेवन करने लगता है और स्वरूपानन्द का परित्याग कर प्रकृति के गुणों में से आनन्द मिलेगा यह झूठी आशा रखकर जड़ पदार्थों का अनुभव और अपेक्षा करने लगता है और शनैः-शनैः आप भी जड-जैसा हो जाता है।

सर्वसदगुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः।
भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन॥
कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिमिच्छता।
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च॥

---

१ एवं द्वाभ्यामन्यत्र सत्यत्वं निराकृत्य तत्त्वेन सत्यत्वेन तदेव भजनीयमिति सदंशं विचार्य द्वाभ्यां चिदंशं विचारयति- 'स यदजया'। चित्सेव्येति पक्षेऽपि भगवानेव सेव्यो न तु जीवाः। स्वरूपस्थितो हि सेव्यः, जीवास्तु स्वरूपात्प्रच्युताः। इत्यादि। ननु भगवत्सेवापेक्षया जीवभजनमेव मुख्यम्, जीवे भगवानप्यस्ति जीवोऽप्यस्ति, अतः सांशो भगवांस्तत्र वर्तत इति तं परित्यज्य निरंशः केवलः कथं सेव्य इति चेत्- 'यदि न समुद्धरन्ति हृदि कामजटाः'। यत्रांश प्रकटः भगवांश्च प्रकटस्तत्र तथैव। अतएव पूर्वां पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम्। यत्र पुनः स्वरूपं जडतामापन्नं भगवांश्च सर्वथा न प्रकटः तत्र किं स्यात्। न हि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं या काष्ठं सेव्यते। तस्मादप्रकटभगवत्स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः। (भाग० सुबो०वेदस्तुतिः)

जीवेषु भगवानात्मा संछन्नस्तेन तत्र न।
भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत्॥
सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरिं भजेत्।
अन्यथा सुखसम्प्रेप्सुः सर्वथा दुःखमाप्नुयात्॥
कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः।
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः।

(सुबो० का० वेदस्तुतिः)

इसलिये सर्व सद्गुण और बड़प्पन की निधि तथा सर्व दोषों से रहित भगवान् ही सेवा करने योग्य है किन्तु संसारी जीव सेवा करने योग्य नहीं है। सविशेष काल से लेकर तृणपर्यन्त जगद्वर्ती कोई भी पदार्थ सेवनीय नहीं है, क्योंकि उनमें किसी में भी दोष दूर कराने की शक्ति नहीं है अतएव मोक्ष चाहने वाले जीवों को एक श्रीपुरुषोत्तम का ही भजन करना चाहिये। भगवान् पुरुषोत्तम निर्दोष है और दोषों को दूर करने की शक्ति रखता है, यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि भगवत्सेवा की अपेक्षा जीव का भजन करना यही पक्ष ठीक है। क्योंकि जीव के भजन में अंशांशी दोनों का भजन आ जाता है। जीव में भगवान् भी है जीव भी है और केवल भगवान् के भजन करने में उनके अंश रह जाते हैं अतएव पूजा निरङ्ग पूजा होगी। इसलिये केवल भगवान् की ही पूजा क्यों?

इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यदि न समुद्धरन्ति।' भगवद्गुणों का होना और दोषों का न रहना यही भगवान् का प्राकट्य है और यही भगवदंश का प्राकट्य है। अतएव जिस जीव में दोष न हो और 'सत्यं शौचम्' आदि प्रथमोक्त भगवान् के गुण मौजूद हों वह भगवान् सहित

भगवदंश है अतएव उसका यथायोग्य सेवन करना उचित है और इसीलिये द्वितीय स्कन्धादि में पुरुषों में (अवताररूपों में) भगवान् का आराधन करने की विधि कर चुके हैं। किन्तु ऐसे भगवत्सहित भगवान के अंश सर्वत्र सर्वदा मिलने अति दुर्लभ हैं इसलिये 'पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः' इस न्याय से भगवान् समझकर जीव की सेवा का सर्वथा निषेध ही उचित है। माया का सम्बन्ध होने से भगवदंश के भगवद्गुण नष्ट हो जाते हैं और अनेक दोष आ जाते हैं। उनका स्वरूप (चेतन) भी जड़ हो जाता है, वे अपने आपको देहप्राणेन्द्रियस्वरूप मानने लगते हैं और तदनुकूल ही व्यवहार रखते हैं, ऐसी अवस्था में न उनमें भगवदंश है और न भगवान् है। काष्ठ में छिपा हुआ अग्नि है इसलिये उसे अग्नि मानकर कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य पौष, माघ आदि महीनों में शीतनिवृत्ति के लिये अपने सामने नहीं रखता, किंवा कोई भी याज्ञिक उस शुष्क काष्ठ को घृत होम के लिये नहीं ग्रहण करता।

इसी तरह से जिन जीवों में भगवदंशों के गुण और भगवान् के गुण न हों वहाँ परोक्षरूप से छिपा हुआ आश्रय रूप भगवान् रहता भी हो तथापि उनकी सेवा या पूजा नहीं करनी चाहिये। केवल पुरुषोत्तम का ही सेवन करना चाहिये। किंवा अवतारों की पूजा करनी चाहिये। यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि जड़ और चेतन दोनों पदार्थ सदोष हैं अतएव असत् हैं, इनका सेवन करना उचित नहीं है यह ठीक है किन्तु सुख साधनों का परिग्रह होता है। भगवत्सेवा भी सुख के लिये ही की जाती है तो लौकिक सुख और सुख के साधनों का सेवन करने में क्या कठिनाई है।

इसके उत्तर में श्रुति कहती है कि- 'त्वदवगमी न वेत्ति।' लौकिक[1] चिदंश की तरह लौकिक आनन्दों का भी सेवन शास्त्र निषिद्ध है। स्मृति-शास्त्रों में लौकिक आनन्दों का भी सेवन का सर्वथा निषेध है। स्त्री, धन, पुत्र, गृह आदि का भोग करने में शास्त्रकारों ने अनेक नियम बाँध दिये हैं, यदि भोग की निवृत्ति अभीष्ट न होती तो नियम लगा देने की आवश्यकता न पड़ती। अबक रही साधारण स्त्री प्रभृति सो उनके भोग का भी निषेध ही है। जैसे भोग साधारण स्त्रियों का निषेध है इस तरह अप्सराओं का भी निषेध है जैसे यहाँ उनका सङ्ग करने में अपकीर्ति है तद्वत् उनके भोग में निन्दा और निपात है। इस तरह प्रायः सब लौकिक सुखों के भोग का निषेध है। निषिद्धाचरण में दुःख मिलता ही है इसलिये सब लौकिक सुख दुःखानुभवसहित हैं अतः उनका सेवन करना योग्य नहीं है और भगवदानन्द में कोई दोष नहीं है इसलिये भगवान् का ही केवल सेवन करना उचित है और वास्तव में जो सुख नश्वर हैं इसलिये असेवनीय हैं। किन्तु भगवदानन्द अनन्त, अनश्वर और अजर है, इसलिये उसी का सेवन करना उचित है। यही मुख्य ब्रह्मवाद है, यही ग्राह्यत्याज्यविवेक है, यही श्रीमद्भागवत है।

इतने ग्रन्थ से यह सिद्ध होता है कि लोक में ग्राह्य और त्याज्य दोनों

---

१ स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धाः। यथेह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोऽपि, यथात्र कालादिनियमव्यतिरेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृतिविरोधे भवति एवं स्वर्गलोकेष्वपि ज्ञातव्यम्। यथात्रापकीर्तिस्तथा तत्रापि। अतः सर्व एवं सुखानुभवो निषिद्धः। ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानुविद्धमतः कथं सेव्यं स्यात्। भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्यः न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः संभवन्ति। यतोऽत्रैव भगवत्स्वरूपज्ञाने भोगादिनापि न दुःखनिन्दाचिन्तादयो भवन्ति तदाह-'त्वदवगमी'। (भाग० सुबोधिनी वेदसस्तुतिः)

पदार्थ सम्मिलित हैं। जहाँ तक गुणों का सम्बन्ध है वह सब त्याज्य है, जो निर्गुण है वह ग्राह्य है। जगत्-क्रीड़ा सम्बन्धी पदार्थों में अक्षर ब्रह्म के पूर्व-पूर्व सब पदार्थों में माया किंवा प्रकृति का समन्वय और ब्रह्म का समन्वय साथ-साथ है। प्रकृति प्रविष्ट है और भगवान अप्रविष्ट है तथापि प्रविष्ट की तरह दीखता है। प्रकृति प्रविष्ट है अतएव आगन्तुक है और भगवान् दोनों तरह से पूर्व में ही विद्यमान है अतएव अप्रविष्ट और अनागन्तुक है। घट में प्रतिनियत नाम और रूप प्रविष्ट हैं अतएव आगन्तुक हैं किन्तु मृत्तिका पहले ही विद्यमान थी अतएव वह अप्रविष्ट और अनागन्तुक है। शराव के समय घट, मणिक के समय घट और शराव त्याज्य हैं किन्तु मृत्तिका कभी भी त्याज्य नहीं है। किन्तु ग्राह्य ही है क्योंकि वह आश्रय है। आश्रय कभी त्याज्य नहीं है, वह ग्राह्य पदार्थ ही है। जगत् त्याज्य है भगवान् ग्राह्य है।

वास्तव में त्याज्य कोई पदार्थ ही नहीं है किन्तु सब ग्राह्य ही ग्राह्य पदार्थ हैं। किन्तु बुद्धि के विपर्यास से सत्यानृत का मेल कर रक्खा है इसलिये ग्राह्यत्याज्यविवेक करना पड़ता है। बुद्धि को मति बनाकर वेद-शास्त्रों के द्वारा त्याज्य को भूलकर या छोड़कर ग्राह्य का ग्रहण कर लेना बस इसी का नाम मुख्य ब्रह्मवाद है, इसी का नाम श्रीमद्भागवत है और इसी का नाम भगवत्तत्त्व किंवा मुख्य ज्ञान है।

यह ब्रह्मवाद भगवद्भक्ति का बड़ा उपयोगी है। इस ब्रह्मवाद के बिना शुद्ध हरिभक्ति हो ही नहीं सकती। ब्रह्मवाद सहित भक्ति ही भगवान की आत्मा है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इस वाक्य का भी यही तात्पर्य है। निर्गुण सत्य ज्ञान आनन्द ही भगवान् हैं और ब्रह्मवाद भक्ति में यही भरा हुआ है इसलिये ब्रह्मवाद और भक्ति दोनों भगवान् हैं।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥

(श्रीमद्भा० ३।३२।३२)

और इसीलिये निर्गुण ज्ञान और निर्गुण भक्ति दोनों से भरे हुए इस श्रीमद्भागवत को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप माना है। श्रीकृष्ण और श्रीमद्भागवत सर्वाश्रय हैं। एक रूपात्मक दूसरा नामात्मक। दोनों आश्रय हैं। दोनों भक्तों के शरण हैं।

ज्ञान की निन्दा किंवा उसकी गौणता जहाँ कहीं शास्त्रों में आयी है वह सब वृत्तिलक्षण ज्ञान की है, फलस्वरूप ज्ञान की नहीं। फलरूप ज्ञान तो शुद्ध परब्रह्म है। अतएव स्वाद, नाम और रूप में, भेद रहते भी आश्रयरूप से और फलरूप से दोनों एक हैं और इसी तरह मुख्य शुद्ध अद्वैत हो सकता है और तरह से नहीं। भक्ति आनन्द है और ज्ञान चित् है, दोनों भगवान् हैं, यह शुद्ध अद्वैत है।

निर्गुण ब्रह्मवाद और निर्गुण भक्तिमार्ग दोनों के कर्तव्य और फल प्रायः एक-से हैं यह बात निमि और योगेश्वरों के संवाद में सुसिद्ध है। राजा निमि ने भगवदीयों के धर्म (कर्तव्य) और उनका लक्षण पूछा तब कवि और हरि नामक योगेश्वर ने उत्तर दिया है कि-

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।

तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यै कयेशं गुरुदेवतात्मा॥
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥
श्रृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति, रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
स्वं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(श्रीमद्भा० ११।२।३६-४२)

इन भागवत धर्मों में कर्तव्य और वस्तुस्थिति का अनुवाद दोनों हैं। तृतीय श्लोक 'अविद्य' इत्यादिपर्यन्त तो ब्रह्मवादी किंवा भगवदीय के कर्तव्यों का निरूपण है और उसके बाद 'श्रृण्वन्' श्लोक से लेकर 'क्षुदपायोऽनुघासम्' पर्यन्त वस्तुस्थिति का निरूपण है। मनुष्य के इस शरीर में कृति के साधनविशेष में विशेष सात हैं- शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार और साधारण स्वभाव। इन सातों से कुछ-ना-कुछ कर्म किये जाते हैं। ये कर्म वैदिकाङ्ग भी होते हैं और लौकिकाङ्ग भी। किन्तु ब्रह्मवादी और भागवत इन दोनों के निश्चय में तो सब वस्तु मात्र भगवन्मय है और भगवन्मय ही होनी चाहिये इसलिये भगवद्भक्त और ब्रह्मवादी दोनों इन सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करें, किंवा इस तरह करें कि सब-के-सब भगवान् के ही अर्पित हो जायँ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

इस भगवदाज्ञा के अनुसार ब्रह्मवादी सब कुछ भगवन्मय समझकर करता है इसलिये प्रभु के ही अर्पित होता है। प्रभु के पास ही ठहरता है, अपने पास वापस नहीं चला आता। जो लोग अपने विषय-सुख के लिये किंवा स्त्री-पुत्रादि फल के लिये किंवा मोक्षादि फल के लिये लौकिक, वैदिक किंवा भागवत् कर्मों का आचरण करते हैं वे उनके सब तरह के कर्म भगवान् के पास नहीं ठहरते किन्तु उनके पास पुनः चले आते हैं क्योंकि उन्होंने उनका बदले (एवजाना) कुछ-न-कुछ फल भगवान् से ले लिया है। किसी के पास आपने पाँच रुपये रक्खे तो वे रुपये उसके पास वहाँ तक रहेंगे जब तक उससे आपने उनका बदले में (एवजाना) कुछ उससे बदला ले लिया तो फिर वे रुपये उसके पास न रहे पुनः

आपके पास ही आ गये। इसी तरह ब्रह्मवादी और भक्त यह निश्चय करता है कि मैं तो भक्त होने से अथवा तदंश होने सर्वथा परतन्त्र हूँ। उस प्रभु ने किंवा अंशी ने अपनी क्रीडा या सेवा करने के लिये मुझे पैदा किया है मेरा कर्तव्य है अपने स्वरूप के अनुसार उसकी क्रीडा का साधन बनूँ, उसकी सेवा करूँ। इस कर्तव्यानुष्ठान में मुझे मेरा अपना स्वार्थ कुछ हो ही नहीं सकता। यों समझकर सब कर्म करे तो वे सब भगवान् में अर्पित होते हैं और वे ही कर्म ब्रह्मवाद के तथा भक्ति के अङ्ग हो जाते हैं, वे कर्म ही भक्ति कहे जाते हैं।

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथकः॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

भगवान् ने अपनी क्रीडासिद्धि के लिये चार आश्रम और वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रियादि पैदा किये और उनके स्वरूप के अनुसार अपनी सेवा बतायी। उन्हें अपने-अपने कर्तव्य दे दिये। अब जो लोग किसी तरह से भी अपने अंशी स्वामी और सर्वसमर्थ भगवान् की सेवा नहीं करते और उसकी आज्ञा का परिपालन न करने से ही उसका अपमान करते हैं वे अपनी स्थिति से भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं। इस तरह भगवान् ने दैवी जीवों को अपना सेवक बनाया है, सेवा दी है। अब जो वे लोग इस सेवा के बदले में भगवान् कुछ ले लें तो फिर वह सेवा ही नहीं कही जा सकती। फलाकांक्षारहित सप्रेम कृति ही सेवा कही जा सकती। इसलिये ब्रह्मवादी किंवा भगवदीय शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार, किंवा साधारण स्वभाव से भी जो कुछ करे वह सब श्रीकृष्ण के अर्पण

करे। फल आदिद्वारा अपने अर्पण न कर ले। इस तरह ईश्वरार्पित कर्म किंवा भक्त्यङ्ग कर्मों से किसी तरह का भय नहीं रहता। कर्म करते रहते भी बन्धनादि जन्ममरणादि भय से निर्मुक्त रहता है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि जब सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् है तो फिर भगवान् से भय की सम्भावना भी नहीं हैं, केवल काल्पनिक भय है तो उसकी निवृत्ति के लिये भगवद्भजन की किंवा ईश्वरार्पित कर्म करने की क्या अपेक्षा है। इसके उत्तर में कहते हैं कि- 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः'।

भय काल्पनिक हो अथवा वास्तविक हो, किन्तु उसके परिहार के लिये उपाय को अवश्य करना ही होता है। हाँ, इतना अवश्य देख लेना चाहिये कि यह भय किसके तरफ से आता है। जिसके तरफ से भय आता हो बुद्धिमान् को चाहिये कि उसी के शरण जाय, उसी को प्रसन्न (खुशामद) करे, उसी की सेवा करे। देह-गेह, स्त्री-पुत्रादि प्रपञ्च को भगवान् से पृथक् मानकर जीव इनमें आसक्त होता है और तब इस पर अनेक भय आकर गिरते हैं। किन्तु इस सबका कारण भगवद्विमुखता है। भगवान से पृथक् कुछ है ही नहीं सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् है, यह दृष्टि जहाँ तक है वहाँ तक भय नहीं किन्तु जब जीव भगवान् से अपेत होता है, भगवत्सम्बन्धशून्य होता है, तब इसे अपने स्वरूप की याद नहीं रहती, यह समझता है कि मैं, हाड़, चाम, मांस आदि का पुतला हूँ, मैं स्वतन्त्र मैं प्राण हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं सङ्घात हूँ। ये सब समझ झूठी हैं। इसी का नाम विपर्यय है। विपर्यय (अध्यास) अनेक प्रकार का है। यही पञ्चपर्वा अविद्या है, यह भगवन्माया के तरफ से ही आती है। भगवन्माया के हटे बिना यह हटती भी नहीं। जाग्रत् से सुषुप्ति की तरह, विद्या से यह

दब जाती है पर एकदम निवृत्ति नहीं होती। इसकी एकदम निवृत्ति तो माया के दूर होने से ही होती है। माया भगवान् की दासी है, अधीनशक्ति है इसलिये उनकी इच्छा से हट सकती है, तो बुद्धिमान् को चाहिये कि भगवान् का भजन करे। भगवद्गीता में प्रभु ने कहा है 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' भगवान् के बताये हुए मार्ग से सप्रेम प्रभु का सेवन करे यही माया के तरण का सरल उपाय है। भगवन्मार्ग का प्रथमोपदेष्टा आचार्य है, इसलिये आचार्य को देववत्पूज्य और अपने अपनपे की तरह अतिप्रिय समझे।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि स्त्री-पुत्र, धन-गृहादि भोग की सामग्रियों में आसक्त होने से अनेक भय उपस्थित होते हैं यह ठीक है किन्तु जिसके पास ये सामग्रियाँ ही न हों, किंवा जो इन्हें परित्याग कर वन में किंवा भगवन्मन्दिरादि में निवास करता हो उसे भय नहीं भी हो सकता है तो इसके उत्तर में कहते हैं कि- 'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो' स्रक्-चन्दन, स्त्री-पुत्रादि पृथक् पदार्थ जो मन को विचलित कर देने वाले हैं वे चाहे स्पर्शनादि प्रत्यक्ष में उपस्थित न भी हों, तथापि वे मन में अवश्य उपस्थित होते हैं। अन्तःकरण के संस्कार अनादि काल से चले आ रहे हैं, यद्यपि कभी-कभी वे सोते रहते हैं तथापि थोड़ी-सी भी उद्बोधन सामग्री को पाकर जाग उठते हैं और मन को विचलित कर देते हैं। मन में अनेक प्रकार की कामनाएँ जाग उठती हैं। कामनाओं के जाल में पड़कर इसकी स्मृतिजाती रहती है, स्मृतिभ्रंश से जिस बुद्धि को बड़े प्रयत्न से तैयार की थी वह सात्विक बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि के नाश हो जाने से यह चेतन भी अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये कर्म के सङ्कल्प-विकल्पों के उपस्थित करने वाले मन को

सबसे पहले वश में करे। इसको वश में करने का उपाय सबसे उत्तम और सरल श्रवणादि नवधा भक्ति किंवा तनुजा-वित्तजा सेवा है।

'शृण्वन् सुभद्राणि', रथाङ्ग (चक्र)-धारी भगवान् अर्थात् अन्तःप्रविष्ट भगवान् नहीं किन्तु भक्तोद्धारार्थ भूतलपर प्रकट हुए श्रीकृष्ण के परममङ्गल जन्म, बाल्य-कैशोर आदि सब चरित्रों का समान भाव से सर्वदा श्रवण करता रहे। केवल भागवतादि संस्कृत ग्रन्थोपनिबद्ध ही नहीं, किन्तु लोक में तत्तद्देश प्रसूत भगवदीय महात्माओं द्वारा अपनी पवित्र भाषाओं में गाये और बनाये हुए और बनाये हुए सम्पूर्ण चरित्र-लीलाओं का किसी तरह की स्पृहा रक्खे बिना श्रवण, गान और अभिनय करता रहे तथा भगवन्नामादिका उच्चारण भी निःस्पृह और निर्भय होकर करता रहे।

शुद्ध भगवच्चरित्रों के गान करने में तथा निर्भय होकर जोर से भगवन्नाम लेने में लोगों को लोकलज्जा बाधा देती है और यह लोकलज्जा पापों की पहचान है। भगवद्भजनादि में जब तक लज्जादि होती रहे समझ लीजिये कि अभी अन्तःकरण में पाप वासना भरी हुई है। किन्तु यहाँ 'विलज्जः' पद दिया है और 'असङ्ग' पद भी दिया है। इन दोनों पदों से निश्चय होता है कि पूर्वोक्त भगवद्भजन आदि साधनों से अन्तःकरण के मैल दूर हुए हैं और चित्तशुद्धि हो चुकी है अतएव लोक का कुछ नाश हुआ है और निर्भयता प्राप्त हुई है। भय और लोक का नाश होना यह फल की मध्यावस्था है।

अब भक्त की उत्तमावस्था का निरूपण करते हैं- 'एवंव्रतः'। किंवा फलावस्था के कर्तव्य का अनुवाद करते हैं, यह ऐसे कर्तव्य विधेय नहीं होते हैं केवल अनूद्य रहते हैं, यह वस्तुस्थिति है। इस प्रकार के आचरण होने से उन महानुभाव भगवदीयों के हृदय में भगवान् का

और भगवद्-लीलाओं का आविर्भाव होता है, उनका हृदय मोम की तरह पिघला हुआ रहता है, श्रीकृष्णरस से अनुरक्त होता है। जब कभी उस लीला को देखकर अपनी सुध आती है तो 'हे प्रभो! अभी तक मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हो' यों कहकर जोर से रोने लगता है। कभी अति उछाह के मारे पुकारने लगता है। फिर कभी जब यह मालूम होता है कि प्रभु मुख्य भक्तों की तरह मेरे ऊपर भी कृपा कर रहे हैं तो हर्ष के मारे गान गाने लगता है और प्रभु का श्रीहस्त अपने हस्त में लेकर मस्तों की तरह नाचने लगता है। यह अवस्था लौकिक नहीं है यह लोकबाह्य है। दुनिया में बहुत से ढोंगी वृत्त्यर्थ किंवा प्रतिष्ठार्थ भी ऐसे स्वाँग करने लगते हैं, इसलिये कोई इन्हें भी वैसा न समझ ले इसलिये 'उन्मादवत्' और 'लोकबाह्य:' ये दो पद दिये गये हैं। जैसे कोई अपने आपे से बाहर लोकबाह्य, पागल नाचता है इस तरह यह सर्व लोकवन्द्य अलौकिक महापुरुष भी नृत्य करता है। यह भगवान् का अन्त:प्राकट्य है।

अब इससे भी उच्च अवस्था में भगवदीयों के जो कर्तव्य हैं उनका अनुवाद (न कि अनुविधान) करते हैं- 'खं वायुमग्निम्'। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सूर्यादि, प्राणिमात्र, दिशा, वृक्ष, नदी और समुद्र प्रभृति सारे पदार्थ भगवान् के शरीर (निवासस्थान) दीखने लगते हैं अर्थात् सर्वत्र अपने प्रभु का आविर्भाव उसी तरह हो जाता है। उसी प्रकार की लीलाएँ सर्वत्र अवलोकन करने में आती हैं अतएव यह भगवदीय सब सत्तात्मक जगत् को शुद्ध भगवान् समझकर प्रणाम करता है। माया का आवरण सर्वतः हट जाता है,सत्यासत्य जगत् और असत्य प्रपञ्च भगवान् प्रादुर्भूत होता है। इस तरह मुख्य ब्रह्मवाद और शुद्ध भक्ति का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, ब्रह्मवाद और भक्तिमार्ग को जो लोग असम्बद्ध

भिन्न-भिन्न मार्ग कहते हैं वे निरर्थक बात करते हैं।

आगे जाकर फिर और स्पष्ट ही दोनों का ऐक्य बताते हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भागद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

प्रणय के द्वारा सर्वत्र जिसे भगवान् के दर्शन प्राप्त हुए हों वह भगवदीयों में उत्तम भगवदीय है, यह पूर्वश्लोक का स्पष्ट तात्पर्य है। सारे जगत् को भगवान में देख वह सर्वोत्तम भगवद्भक्त है। घटादि सब मृण्मय पदार्थ विद्यमान हैं जिस प्रकार, उसी तरह से सारे जगत् में भगवान् हैं और भगवान् में सारा जगत् है। यह मुख्य ब्रह्मवाद का मुख्य सिद्धान्त है और शुद्ध भक्ति के साथ मिला हुआ है। तृतीय स्कन्ध में भी जहाँ भक्तिभेदों का निर्देश किया है वहाँ परित्याज्य भक्तिमार्गों में भेद को आगे रक्खा है किन्तु निर्गुण भक्तिमार्ग में अभेद को आगे रखकर निर्गुण स्नेह का निर्देश किया है।

कितनों का यह भ्रम है कि मुख्य ब्रह्मवाद में शुद्ध भक्तिमार्ग का समन्वय नहीं हो सकता। पूज्य-पूजक सेव्य-सेवकादि भेदों में स्नेह हो सकता है, पर जहाँ कोई भेद ही नहीं वहाँ स्नेह किसके साथ? यह प्रश्न बना ही रहता है। किन्तु वास्तव में उनका यह भ्रम ही है। स्नेह का कोई

---

१ 'अभिसन्धाय यो हिंसाम्' भेदः पारमार्थिक इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः। तेऽत्र साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्वयादिनः, रामानुजाश्चेति तमोरजःसत्त्वैर्भिन्नाः, अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः। एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः 'अभिसन्धाय यो हिंसाम्' इत्यादिभिः। श्रीभा० सुबोधिनी।

ऐसा नियम नहीं है कि भेद में ही हो अभेद में न हो। यदि ऐसा नियम होता तो फिर किसी को भी अपनपे में ही स्नेह होता। किन्तु सबको ही अपनपे में स्नेह होता है। अपने-आप में जो प्रेम होता है वह अभेद में ही होता है। देह में जो देह का प्रेम होता है वह अभेद में ही होता है। प्रत्युत भेद में भी जो प्रेम होता है वह भी अभेद में ही होता है। प्रत्युत भेद में भी जो प्रेम होता है वह भी अभेदप्रयुक्त ही होता है। हम जो धन से प्रेम करते हैं वह भीउसमें और हममें कुछ अभेद मानकर ही करते हैं। श्रुति कहती है-

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'

स्त्री को अपना पति जो प्यारा लगता है वह पति के प्रिय होने से नहीं किन्तु अपनपे में प्यार होने से पति प्यारा है। स्त्री की प्रियता पति में नहीं है प्रत्युत उसकी प्रियता उसी में है। क्या यह अभेद में प्रेम नहीं है ? क्या यह भेद में ही प्रेम है ? प्रिय पदार्थ में प्रियता होती है, न भेद में और न अभेद में।

प्रियता भगवद्धर्म है। भगवान् सर्वत्र है तो सर्वत्र प्रियता भी है। यद्यपि सर्वत्र भगवान् है और अतएव सब पदार्थ प्रिय भी हैं पर यदि वह प्रियता अतिरोहित रहती तो भगवत्क्रीड़ा सुचारुरूप से न चलती। इसलिये भगवान् ने अपनी उस प्रियता का अधिकार के नियम से तिरोधान कर रक्खा है। रजस्तमःसत्त्वमयी सदसती प्रकृति के गुणों ने प्रियता को अनेक भेदों में बाँट दिया। सब कुछ पदार्थ प्रिय था किन्तु अब किसी को कुछ, किसी को कुछ प्रिय लगता है। सत्त्व, रजस्तम तीनों उस भगवान् के प्रिय धर्म को छिपा देने वाले हैं। तीनों-के-तीनों बन्धक हैं, प्रतिबन्धक

हट जाते हैं, जिस महापुरुष की मतिपर से सत्यासत्य मायारूप आवरण दूर हो जाता है उसकी दृष्टि में सर्वत्र स्नेह का प्रादुर्भाव होता है, सर्वत्र पूज्यता प्रकट होती है, जिसे सर्व जगत् में भगवान् का आविर्भाव है वह भाग्यवान् भगवदीय 'यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य:' 'सर्वभूतेषु य: पश्येद्भगवद्भावमात्मन:' हो जाता है।

मुख्य ब्रह्मवाद और मुख्य भक्तिमार्ग के भगवदीयों का निरूपण करके अब गौणभक्तिमार्गीय भगवदीय का निरूपण करते हैं- 'ईश्वरे तदधीनेषु'। सर्वत्र भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है किन्तु शास्त्र के और भगवदीयों के आचरण एवं उपदेश के द्वारा यह समझ लिया है कि सारा जगत् भगवन्मय है भगवान् है। भगवदाज्ञाओं के परवश होकर जगत् की सन्मर्यादाओं का पालन भी करना है और आगे की भाविनी प्रजा को यथायोग्य सन्मार्ग भगवन्मार्ग पर चलानी भी है इसलिये बहुत-से भगवदीय लोग सन्मार्गीय जगत् का अविरोध रखते हुए जगत् को भगवन्मय किंवा भगवान् मानने का आचरण रखते हैं।

ईश्वर (भगवान्) में प्रेम करते हैं, भगवदधीन भगवदीयों से मित्रभाव करते हैं, भगवत्स्वरूपानभिज्ञ मूढ लोगों पर कृपा रखते हैं और भगवद्द्वेषी किंवा भगवदीय द्वेषी के साथ उदासीनभाव रखते हैं वे भगवद्भक्त मध्यम भक्त हैं उत्तम नहीं। क्योंकि उन्हें सर्वत्र भगवद्दर्शन नहीं होते, भगवान् पृथक् और जगत् पृथक् यह भेददर्शन कुछ-कुछ विद्यमान है। यहाँ इतना और समझना चाहिये कि प्राय: उत्तम भगवदीय भी कभी-कभी लोकसंग्रह किंवा किसी भगवत्कृपाभाजन भक्त को उत्तम अवस्था में लाने के लिये यथायोग्य भिन्न भिन्नाचार का प्रदर्शन करते हैं यह उनका निरूपण नहीं है किन्तु यह निरूपण वास्तविक मध्यम भक्त ब्रह्मवादियों का है।

अब तृतीय कक्षा के प्रारम्भिक भक्त का निरूपण करते हैं।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

साधारण भगवद्भक्त को भी सारे जगद्वर्तिपदार्थ किंवा साधारण जनों के साथ भी दान, मान, पूजा, श्रद्धा रखना चाहिये यह भगवदाज्ञा और भगवच्छास्त्रों का तात्पर्य है किन्तु जो लोग इस तरह वस्तुस्थिति रहने पर भी शास्त्र और भगवान् की अवज्ञा कर केवल भगवन्मूर्ति में ही श्रद्धा से पूजा या सेवा करते हैं किन्तु भगवदीय किंवा अन्य साधारण में श्रद्धा किंवा पूजनीय भाव नहीं रखते किंवा उनकी सेवा नहीं करते वे प्रारम्भिक भक्त होने से कनिष्ठ हैं।

इब इससे आगे के भक्तलक्षण श्लोकों में भी भगवदीय और ब्रह्मवादी दोनों के लक्षण एक रूप से ही दिखाये गये हैं। 'गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्' 'देहेन्द्रियप्राणमनोधिया०' 'न कामकर्मबीजानाम्०' 'न यस्य जन्मकर्मभ्याम्' 'न यस्य स्वः पर इति०' 'त्रिभुवनविभवहेतवे०' 'भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रि०' 'विसृजति हृदयं न यस्य०'।

वास्तव में तो शुद्ध भक्ति में ब्रह्मवाद की बड़ी आवश्यकता है। ग्राह्यात्याज्यविवेक जो ब्रह्मवाद का मुख्य उद्देश्य है वह मुख्य भक्ति का भी उद्देश्य ही है। जिस प्रकार ब्रह्मवाद में शुद्ध ब्रह्म ग्राह्य और अन्य सब त्याज्य हैं इसी प्रकार से शुद्ध भक्ति में भी भगवान् ग्राह्य हैं और सब त्याज्य है। भक्ति और ब्रह्मवाद में भेद इतना ही है कि एक प्रेम है तो दूसरा ज्ञान। एक चिद्रूप ब्रह्म है तो दूसरा आनन्दरूप ब्रह्म है। फल में दोनों भगवद्रूप हैं।

वास्तव में तो सब-का-सब ग्राह्य-ही-ग्राह्य पदार्थ है कुछ भी

त्याज्य है ही नहीं, किन्तु वह दृष्टि जब तक न हो वहाँ तक ग्राह्यत्याज्यविवेक रहताही है।

श्रीवसुदेवजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा है कि पञ्च महाभूत, प्राणादि शक्ति उनके धर्म इन्द्रियादि जो कुछ यह दीखता है वह सब आप ही हो। आप ही सबके आधार भी हो, आप ही प्रकृति-पुरुष हो, आप ही अक्षर पुरुषोत्तम हो। मैं अब आपके शरण हूँ। इस तरह का खण्डद्वैत ब्रह्मवाद सुनकर भगवान् आज्ञा करते हैं कि-

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तारोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि॥

हे यदुश्रेष्ठ! जिस दृष्टि से आपा मुझे देखते हैं उसी दृष्टि से सबको देखो। सब-का-सब जगत् साक्षात्परब्रह्म है, यह दर्शन होने पर फिर कुछ खण्डपदार्थ बाकी नहीं रह जाता। मैं, आप, बड़े भाई और ये सब द्वारकानिवासी लोग किंवा और ब्रह्माण्ड जड-चेतन सब-का-सब विश्व साक्षाद्भगवान् है। भगवद्रूपा माया से तीन गुण तैयार हुए, उनसे आधिदैविक,

---

१ यथा मां जानासि तथा सर्वानिव जानीहि। 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वे यथा तत्तु निरूपितम्' इतिवत् सर्वस्य शुद्धभगवत्त्वे ज्ञाते न किञ्चिदवशिष्यते इति। ....1 अन्ये च ब्रह्माण्डस्थाः सर्व एव एवमेव विमृश्याः साक्षाद्भगवानेवेति। 'यथेच्छां भगवान्विष्णुः पुरस्कृत्याभवत्स्वयम्। एवं सर्वत्र तत्तत्स्यामिति जातः स्वयं हरिः॥' पञ्चमहाभूतानि, तत्कृतेषु भौतिकेषु आशयमनुल्लङ्घ्य आविस्तारोऽल्पभूर्येक इति ....। एवं सच्चिदानन्दधर्मतारतम्येन ऐश्वर्यादितारतम्ये न श्रमादितारतम्येन वा नानात्वमात्मन उपपद्यते इति न स्वरूपे भेदस्तदनुरोधेन कल्पनीयः। स एव स्वेच्छया सर्वरूपेण तिष्ठतीति विचारप्रवणं चित्तं कृत्वा यथा मां जानासि तथैव सर्वे मां जानीहि, इत्युपदेशः। एष एवाखण्डाद्वैत (ब्रह्म)वादः। (भाग० सुबोधिनी १०। ३६। २३-२५)

आध्यात्मिक, आधिभौतिक पदार्थ पैदा हुए, उन सबने मिलकर नाना सहस्त्रशः, लक्षशः पदार्थ बनाये। किन्तु उनके पहले ही सच्चिदानन्द भगवान् तत्तत्पदार्थों के आशयों (स्वरूप) के अनुसार अपना शक्तिप्रद प्रवेश्य स्वरूप तैयार किये तैयार था। वह एक ही अपने सत्, चित् आनन्द तथा ऐश्वर्य, श्री आदि धर्मों के तारतम्य से सब कुछ हो गया। उस प्रविष्टाप्रविष्ट परब्रह्म के सब कुछ हो जाने से अब वे ही आध्यात्मिकादि पदार्थ पञ्चमहाभूतादि हस्त्यादि शरीर में विस्तार को प्राप्त होते हैं तो चींटी के शरीर में अल्पतम हो जाते हैं। इसलिये हे पिता! वह भगवान् ही सर्वरूप से सर्वत्र फैलकर बैठा है, यह मन में निश्चयकर जैसे आप मुझे परब्रह्म देखते हैं, इसी प्रकार सारे जगत् को मेरा स्वरूप देखिये यही अखण्डाद्वैत ब्रह्मवाद है।

कितने ही कहते हैं कि श्रीगोपीजनों की भक्ति में केवल भक्ति है ब्रह्मवाद का लेश भी नहीं है। किन्तु यह उनकी भूल है, विचार से देखा जाय तो श्री गोपीजनों की शुद्ध भक्ति में भी शुद्ध ब्रह्मवाद मौजूद है।

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

यहाँ स्पष्ट रीति से सर्वपरित्यागपूर्वक भगवत्परिग्रह है। ग्राह्यत्याज्य विवेक है। विषयमात्र अब्रह्म होने से परित्याज्य है और भगवान् ब्रह्म है इसलिये ग्राह्य है। दूसरे श्लोक में भी 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' कहकर सर्वका परित्याग है 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा' कहकर भगवान् का ही ग्रहण है। आप प्रियात्प्रियतम, बन्धु देहनिर्वाहक और आत्मा

सर्वाश्रय, सब कुछ आप ही हैं यह कहकर सर्व पदार्थमात्र में भगवद्दर्शन है और अन्त में फिर भगवत्सायुज्य ही उन्हें फल प्राप्त हुआ है।

'तद्भावमापुरपि[१] नित्ययुजां दुरापम्।'

'तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्'

बड़े दिनों में श्रीगोपीजनों के अपने प्रियतम के दर्शन हुए। बाह्य दर्शन में पलकों के गिरने का व्यवधान 'विरह' होता था अतएव नेत्रों के द्वारा हृदय में ले जाकर खूब आलिङ्गन किया और निरन्तर योगनिरत महायोगियों को भी जो भाव दुष्प्राप्य था उसे प्राप्त हुईं भगवद्रूप हो गईं। यह भाव (सायुज्य) उन्हें काम से प्राप्त हुआ था और वह अनुग्रह से हुआ था इसलिये किसी प्रकार का साधन श्रम नहीं करना पड़ा सहज ही मिल गया। उस काम को दूर करना था, इसलिये ज्ञान का (ब्रह्मवाद का) उपदेश दिया। उस उपदेश से श्रीगोपीजनों के लिङ्गशरीर ध्वस्त हो गये अर्थात् उनमें भी ब्रह्मवाद हो गया अतएव वे भगवद्रूप हो गयीं।

---

१. अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थे प्रवृत्ताः सजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः। लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति। जीवधर्मापेक्षया भगवद्धर्मा बलिष्ठा इति जीवभावं परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः। अयं भावस्तासां कामेन जातस्तत्राप्यनायासेन। निरन्तरयोगरतानामप्यप्राप्यम्। बोधकस्य भगवदनुस्मरणेन बोधितार्थानुस्मरणेन वा ध्वस्तजीवकोशाः सत्यः व्यवधायकं स्वकीयं उपाधिरूपं परित्यज्य तमेवाध्यगन् भगवद्रूपा एव जाता यथा भगवान्। तेन अन्तःपूर्णो भगवानेव जातः। एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः। कामनिवारणार्थे च ज्ञानोपदेशः।

(भाग० सुबोधिनी १०। ३३। ४०-४८)

गो.चि. श्री 105 श्री भूपेशकुमारजी (विशाल बाबा)



नाथद्वारा

जन्म दिनांक
५ जनवरी सन् १९८१

जन्म तिथि : पौष कृष्ण ३०
विक्रम संवत् २०३७

ब्रह्मवाद के सूत्र

(१) "ब्रह्म सर्वज्ञ है"

(२) "जीव अल्पज्ञ, अणु और ईश्वर का ही अंश है"

(३) "ब्रह्म अपरिमेय और अज्ञेय है, दुर्गम्य भी है किन्तु अनुग्रहैक गम्य भी वही है"

(४) "ब्रह्म सर्व धर्मों का केन्द्र है"

(५) "ब्रह्म सर्व सामर्थ्य सम्पन्न ईश्वर है और वही परमतत्व भगवान् श्री कृष्ण ही है"

(६) "ब्रह्म सर्व विरूद्ध धर्मों का आश्रय है"

(७) "ब्रह्म निर्दुष्ट है"

(८) "ब्रह्म सर्व सद्गुण संयुक्त है"

"कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोष व्रर्जितम्"

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य

चौधरी ऑफसेट प्रा.लि., उदयपुर, फोन: 0294 2584071/2674

गायत्री मन्त्र भाष्यम्

(विविधाचार्य विरचितम्)

